जैन न्याय शास्त्र एक परिशीलन

प्रमाण-नय-निक्षेप-विवेचन

विजय मुनि शास्त्री

जैन न्याय-शास्त्र

एक परिशीलन

विजय मुनि शास्त्री
(साहित्यरत्न)

प्रकाशक
दिवाकर प्रकाशन, आगरा—२

- **पुस्तक**

  जैन न्याय-शास्त्र : एक परिशीलन

- **विषय**

  प्रमाण-नय-निक्षेप

- **प्रकाशन**

  १६६० मार्च

  वि. सं. २०४६ फाल्गुन

- **मूल्य**

  सिर्फ २०/- बीस रुपया मात्र

- **प्रकाशक**

  दिवाकर प्रकाशन,

  A 7 अवागढ़ हाउस, अंजना सिनेमा के सामने

  एम. जी रोड आगरा २८२००२

- **मुद्रण**

  संजय सुराना के निदेशन में

  कामधेनु प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स

  आगरा २८२००२

स्वकीय

जो कुछ समझ पाया

जैन परम्परा के आगम और दर्शन को यथार्थ अर्थ में, समझने के लिए प्रमाण, नय, निक्षेप, अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी को समझना, परम आवश्यक है। यह कार्य न्याय-शास्त्र एवं तर्क-शास्त्र को समझे बिना सम्भव नहीं है। केवल श्रद्धा के बल पर, व्यक्ति स्वयं तो कदाचित् समझ भी जाए, परन्तु अपने मान्य आगम एवं दर्शन के मर्म को दूसरे व्यक्ति के गले उतारने में, न्याय तथा तर्क का परिबोध अनिवार्य है।

न्याय और तर्क के आकर-ग्रन्थ, हिन्दी भाषा अथवा अन्य लोक भाषा में सुलभ नहीं हैं। न्याय-विद्या और तर्कामृत का पान करने के लिये प्राकृत भाषा और विशेषतः संस्कृत भाषा का परिज्ञान परम आवश्यक है, साथ ही दोनों भाषाओं के बोध के लिये दीर्घ काल तथा अतिश्रम भी अपेक्षित है।

काफी लम्बे समय से मैंने इस कठिन समस्या के सम्बन्ध में, अपने मन में मन्थन किया। कुछ सज्जनों की प्रेरणा मिली कि आप इस विषय पर संक्षिप्त तथा सरल भाषा में कुछ अवश्य लिखें। विशेष रूप में जैन समाज के प्रसिद्ध साहित्यकार एवं साहित्य-सेवी श्री श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' का विशेष आग्रह रहा। उसका ही यह प्रतिफलन है, जो पाठकों के सामने है।

प्रस्तुत पुस्तक में जैन न्याय के और तर्क-पद्धति के समस्त अंगों को संक्षेप में समेटने का लक्ष्य रहा है। गूढ विषय की गुरु-ग्रन्थियों को स्पष्ट

करने के लिये पुनरुक्ति का आश्रय लेना पड़ा है। फिर एक ही विषय पर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने विभिन्न शैली से लिखा है। अतः पुनरुक्ति भी प्रकारान्तर से की है। और यह सत्य है कि उससे बचने का प्रयत्न नहीं किया। विषय को सुगम तथा सुबोध बनाने के लिये यह आवश्यक भी था।

प्रस्तुत ग्रन्थ-ग्रन्थन को सुन्दर, मधुर एवं रुचिकर बनाने के लिए जो प्रयत्न साहित्यकार सुराना जी ने किया है, उसका समस्त श्रेय उन्हीं को दिया जाना चाहिये। अंकन, मुद्रण तथा चित्रण उन्हीं का है। अतः पुण्य-फल-भाक् वे ही हैं।

जो व्यक्ति इस प्रकाशन में अर्थ-सहकारी हैं, उन्हें मैं, अपनी ओर से साधुवाद देता हूँ। पुस्तक के प्रचार का पुण्य उन्हें भी प्राप्त होगा। सद्-विचारों के प्रसार में, किसी भी प्रकार का सहकार एवं सहयोग स्वागत योग्य ही है। इस पुस्तक में जो भी कुछ गुम्फित हुआ है, वह प्राक्तन आचार्यों का बौद्धिक प्रसाद है, जिसे पाने का हम सब को समान अधिकार है।

जैन भवन
मोती कटरा, आगरा
१९९०, मार्च

—**विजय मुनि**

अपनी बात

काव्य, संगीत और कला जैसे ललित विषय जहां सर्वसाधारण की रुचि व मनोरंजन के माध्यम बनते हैं, वहाँ दर्शन एवं न्यायशास्त्र जैसे जटिल विषय विद्वानों की बौद्धिक-क्रीड़ा, वाक्-चातुर्य एवं जय-पराजय का मापदण्ड बन जाते हैं, इसलिए अधिकांश मनीषी दर्शन एवं न्याय जैसे दुरूह विषयों में कम ही रुचि लेते हैं और इन्हें एक सिर खपाऊ विषय मान बैठते हैं। किन्तु, सैलानी को जो आनन्द पहाड़ों की ऊबड़-खाबड़ ऊंची चढ़ाई में आता है, वह मैदान की सपाट दौड़ में नहीं मिलता। इसी प्रकार दर्शन एवं न्याय के रसिक पाठक को जो आनन्द इन जटिल विषयों की तर्क-वितर्कणा में आता है, वह कुछ अनूठा ही होता है।

कुछ विद्वान ऐसे भी हैं, जिनकी काव्य एवं संगीत की भाँति दर्शन एवं न्यायशास्त्र में भी समान गति, समान रुचि होती है। वैसे बौद्धिक व्यक्ति के लिये ये दोनों ही शास्त्र उबाऊ नहीं किन्तु दिलचस्प ही होते हैं।

वर्तमान में दर्शन एवं न्यायशास्त्र का अध्ययन काफी कम हो रहा है, इसके अनेक कारण हैं, उनमें एक प्रमुख कारण है, इन विषयों के ग्रंथों की राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुपलब्धि। दर्शनशास्त्र पर तो फिर भी अनेक अच्छे ग्रन्थ हिन्दी भाषा में उपलब्ध है, किन्तु न्याय-ग्रन्थों का तो अभी भी बहुत अभाव है! अधिकतर न्याय-ग्रन्थ संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में ही हैं। और आज संस्कृत-प्राकृत भाषा का पठन-पाठन बहुत कम हो गया है, इसलिये ग्रन्थों के अभाव एवं भाषा ज्ञान की पर्याप्त कमी के कारण इन विषयों में रुचि रखते हुए भी अनेक विज्ञ पाठकों को न्याय रसास्वाद से वंचित ही रहना पड़ता है।

श्री विजय मुनि जी शास्त्री ने उन विज्ञ पाठकों एवं जिज्ञासुओं के लिये बहुत बड़ा उपकार किया है, जैन न्यायशास्त्र को संक्षिप्त एवं सार-ग्राही शैली में सरल तथा सहज भाषा प्रवाह में निबद्ध करके। पुस्तक को पढ़ने से स्वतः यह परिज्ञान होता है कि लेखक श्री विजय मुनिजी दर्शन एवं न्यायशास्त्र के अधिकारी विद्वान तो हैं ही, साथ ही ऐसे दुरूह विषय को सरल भाषा में प्रस्तुतीकरण की कला में भी निष्णात हैं। लगता है, अनेकानेक ग्रन्थ न केवल उनके कण्ठस्थ ही है, अपितु समग्र विषय को आत्मसात् किया है उन्होंने। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है, जब तद् विषयक ग्रन्थों का अनेक बार पारायण/परिशीलन करके उन पर अपना चिन्तन भी किया गया हो।

श्री विजय मुनि जी के लेखन की एक विशेषता है कि वे लिखने से पूर्व समग्र विषय को आत्मसात् कर लेते हैं, लिखते समय उद्धरण एवं संदर्भ के लिये वे किसी ग्रन्थ के पृष्ठ नहीं टटोलते, न ही किसी का अनुकरण करते हैं। स्वतन्त्र चिन्तन की स्याही में डूबकर उनकी लेखनी जो अंकित करती है, वह अपने विषय का प्रामाणिक और प्रसादपूर्ण प्रतिपादन होता है। भारत के सभी दर्शनों का, न्याय ग्रन्थों का उन्होंने अनेक बार परिशीलन किया है, तथा पाश्चात्य दर्शन, न्याय एवं मनोविज्ञान का भी पर्याप्त ज्ञान रखते हैं। यही कारण है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में वे न्यायशास्त्र-नय-निक्षेप-प्रमाण जैसे महत्वपूर्ण और गम्भीर विषयों को धाराप्रवाह तुलनात्मक ढंग से प्रस्तुत करते गए हैं। पाठकों को यह और भी रुचिकर लगेगा कि नय-निक्षेप विवेचन में व्याकरण और काव्यशास्त्र की पृष्ठभूमि को स्पर्श करते हुए शब्द शास्त्रीय समीक्षा के साथ नय-निक्षेप की तुलना और सार्वजनीन उपयोगिता का भी दिग्दर्शन कराया गया है, जो एक स्वतन्त्र चिन्तन तथा गम्भीर अध्ययन की फलश्रुति मानी जायेगी।

आप मूर्धन्य चिन्तक राष्ट्रसन्त उपाध्याय श्री अमरमुनि जी के प्रमुख विद्वान सन्त हैं, साथ ही जैन श्रमण की आदर्श त्याग-परम्परा समन्वय-वृत्ति एवं बहुश्रुतता के साक्षात् प्रतीक हैं। स्वभाव से निस्पृह/निरपेक्ष वृत्ति के श्री विजयमुनि जी अत्यन्त उदारवादी, मिलनसार, समताभावी श्रमण हैं।

आपश्री का यह अद्वितीय ग्रन्थ जैन न्यायशास्त्र के क्षेत्र में महत्वपूर्ण

माना जाएगा। न्याय के विद्यार्थियों के लिए भी विशेष उपयोगी और संग्रहणीय होगा।

मूल ग्रन्थ जितना महत्त्वपूर्ण है, इसका परिशिष्ट उतना ही उपयोगी और ज्ञानवर्धक बन गया है।

नय-निक्षेप-प्रमाण के ज्ञान सागर को इस छोटी-सी गागर में भरने की कुशलता के लिए दर्शनशास्त्र का पाठी मुनिश्री जी को बहुत-बहुत धन्यवाद देगा।

मुनिश्री ने अतीव स्नेह एवं उदारतापूर्वक इस ग्रन्थ के प्रकाशन का सम्पूर्ण दायित्व 'दिवाकर प्रकाशन' को प्रदान किया है। हम आपश्री के अत्यन्त आभारी चिर कृतज्ञ रहेंगे।

प्रकाशन में उदारता पूर्वक अर्थ सहयोग देने वाले धर्म बन्धुओं का भी हम आभार मानते हैं।

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

क्या?...कहाँ?...

———

जैन न्याय-शास्त्र : एक परिशीलन

प्रमाण-नय-निक्षेप

पूर्व-आभास

१

भारतीय दर्शन में न्याय-विद्या

दर्शन शब्द दृश् धातु से बना है, जिसका अर्थ है—देखना। केवल नेत्रों से देखना ही दर्शन नहीं होता, तत्त्व के साक्षात्कार को भी विद्वानों ने दर्शन कहा है। यह तथ्य 'आत्म-दर्शन' आदि शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है। दर्शन शब्द का व्यापक अर्थ है—जिसमें जीवन, जगत् और जगदीश का विवेचन किया जाता है। प्राचीन काल में 'तत्त्व विवेचन' के लिए मीमांसा शब्द का प्रयोग किया जाता था। संस्कृत कोष में पूजित विचार को मीमांसा कहा गया है। आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने अपनी प्रमाण-मीमांसा में, पूजित अर्थ में ही प्रयोग किया है। आगे चलकर आत्म-विद्या और आत्म-विज्ञान जैसे शब्दों का प्रयोग होने लगा।

दर्शन का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

दर्शन जीवन की व्याख्या है। दर्शनशास्त्र का जीवन के सभी पक्षों से सम्बन्ध है। जीवन सम्बन्धी किसी ज्ञान-विज्ञान को दर्शन से पृथक् नहीं किया जा सकता। इतिहास, समाज, राजनीति, धर्म, संस्कृति और विज्ञान आदि से दर्शन का सम्बन्ध दिखाया जाता है। मनोविज्ञान और धर्मशास्त्र से दर्शन का विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध बताया जाता है। क्योंकि मनोविज्ञान से योग का और धर्मशास्त्र से आचार का विशेष सम्बन्ध रहा है। साधना में इनका विशेष उपयोग रहा है। भारतीय दर्शन में विज्ञान, धर्म और तर्क आदि का समन्वय रहा है। पदार्थ विज्ञान तथा शरीरशास्त्र भी दर्शन का अंगभूत रहा है। तर्क युग में आकर व्याकरण और साहित्य ने भी दर्शन का रूप ग्रहण कर लिया। फिलोसफी शब्द इतना व्यापक एवं गम्भीर नहीं

है, जितना कि दर्शन। दर्शन समस्त मानव जाति की सामान्य सम्पत्ति है। किसी एक देश अथवा एक जाति की सम्पत्ति नहीं है। लेकिन यह सत्य है, कि मानव की विभिन्न देशगत, समाजगत, मानसिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों के कारण विभिन्न देशों में, दर्शनशास्त्र का आकार-प्रकार और स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार से विकसित होता रहा है। अतः भारतीय दर्शन, यूनानी दर्शन एवं यूरोपीय दर्शन जैसे नाम प्रचलित हो गए हैं।

दर्शन और तर्क :

दर्शन और तर्क दोनों भिन्न हैं, लेकिन आज दोनों पर्यायवाचक जैसे प्रतीत होते हैं। दर्शन का स्थान तर्क ग्रहण करता जा रहा है। दर्शन परम सत्य अथवा परम तत्त्व को देखने एवं प्राप्त करने का उपाय, मार्ग अथवा दृष्टिकोण है। विशुद्ध विचार का नाम दर्शन है, परन्तु विचार-स्वर्ण की परीक्षा तो तर्क की अग्नि में होती है। तर्क की कसौटी में निखरा विचार विशुद्ध होता है। विचार में दोष—आग्रह, मोह, पक्षपात, बुद्धि की मलिनता और दृष्टि के संकोच के कारण आते हैं। तर्क इन दोषों का निराकरण करके विचार को शुद्ध बनाता है और बुद्धि को निर्मल करता है। अतः तर्क को दर्शन का अनिवार्य एवं अविभाज्य अंग माना गया है। कहा गया है—

मोहं रुणद्धि विमलीकुरुते च बुद्धिं,
सूते च संस्कृत-पद-व्यवहार-शक्तिम्।
शास्त्रान्तरभ्यसन योग्यतया युनक्ति;
तर्क-श्रमो न तनुते किमिहोपकारम्॥

तर्कशास्त्र में किया गया श्रम, व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास का पथ प्रशस्त करता है। व्यामोह को दूर करता है। बुद्धि को विमल बनाता है। परस्पर के व्यवहार की योग्यता को बढ़ाता है। प्रत्येक शास्त्र के अध्ययन की क्षमता प्रदान करता है।

तर्क का उपयोग

भारतीय दर्शन में, तर्कशास्त्र को हेतु-विद्या, हेतु-शास्त्र, प्रमाण-शास्त्र और न्यायशास्त्र कहा गया है। तर्क का उपयोग मुख्यतया तीन प्रयोजनों के लिए किया जाता है जैसे कि—

(क) अपने सिद्धान्त की स्थापना के लिए और अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए।

(ख) अपने मत पर किए गए, आरोप, आक्षेप या दोष के निवारण के लिए।

(ग) विरोधी के मत एवं सिद्धान्त के खण्डन के लिए।

वाद, जल्प, वितण्डा, कथा और सम्वाद भी तर्कशास्त्र के ही अंगभूत हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय ही अपनी रक्षा के लिए तथा विरोधी पर आक्रमण करने के लिए तर्कशास्त्र का भरपूर उपयोग करता था। वादविद्या और वादशास्त्र का अध्ययन करता था। तीर्थंकर के शिष्यों में वादी-प्रतिवादी शिष्य भी होते थे, जिनका संघ म आदर-सत्कार एवं सम्मान होता था। ब्राह्मण परम्परा में, बौद्ध परम्परा में और जैन परम्परा में भी शास्त्रार्थी विद्वानों का होना परम आवश्यक माना जाता था। शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करना धर्म की प्रभावना का एक प्रधान अंग था।

प्रमाण-शास्त्र का विभाजन

प्रमाण के बिना प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रमेय की सिद्धि आवश्यक है और वह प्रमाण से ही होती है। प्रमाण शब्द का अर्थ भी यही है, जिससे प्रमेय का यथार्थ ज्ञान हो, वह प्रमाण है। प्रत्येक सम्प्रदाय को प्रमाण स्वीकार करना ही पड़ता है। तर्क दर्शन का अंग है। अतएव दर्शन के वर्गीकरण के आधार पर तर्क का भी वर्गीकरण किया जा सकता है। भारतीय धर्म की, दर्शन की और संस्कृति की मूल में दो धाराएँ रही हैं— ब्राह्मण और श्रमण। वेदानुकूल और वेद-प्रतिकूल। वेदसम्मत और वेद-विरोधी। पहले को आस्तिक और दूसरे को नास्तिक कहने की एक परम्परा चल पड़ी है। पर, यह एक भ्रान्त धारणा है। जैन और बौद्ध, नास्तिक नहीं, आस्तिक हैं। क्योंकि वे लोक और परलोक में विश्वास करते हैं। कर्म और कर्मफल में विश्वास करते हैं। आत्मा की सत्ता में विश्वास करते हैं। केवल वेद में विश्वास न करने भर से यदि नास्तिकता थोपी जाती है, तो वैदिक लोग भी नास्तिक क्यों नहीं? क्योंकि वे जैन आगमों में और बौद्ध पिटक में विश्वास नहीं करते। अतः दर्शन, प्रमाण और तर्क का विभाजन इस पद्धति से करना उचित होगा—ब्राह्मण तर्क, बौद्ध तर्क और जैन तर्क। दूसरा प्रकार यह भी हो सकता है—ब्राह्मण तर्क और श्रमण तर्क। संस्कृति और सम्प्रदाय के आधार पर ही इस प्रकार का विभाजन करना न्याय-संगत कहा जा सकता है, और उचित भी यही है।

भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय

दर्शन का उद्‌भव संशय अथवा जिज्ञासा से माना जाता है। तथ्य

यह है कि जब मानव के लिए किसी कर्तव्य का विधान किया गया होगा, सुख-प्राप्ति और दुःखनिवृत्ति के उपाय बताए गए होंगे, तब अपने स्वरूप और जगत् के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई होगी। उसी से दर्शन का उद्भव हुआ होगा। कम से कम भारतीय दर्शन के मूल में यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

जिज्ञासा के मूल में भी व्यक्ति का सुखप्राप्ति और दुःखविनाश का उद्देश्य ही निहित होता है। प्रत्येक आत्मा में दुःखनिवृत्ति की सनातन भावना रही है। जिस दिन मनुष्य ने अपने अन्तर् के सुख-दुःख की ओर उसके कारणों की खोज प्रारम्भ की होगी, उसी दिन से दर्शन का प्रारम्भ हुआ होगा।

चार्वाक सम्प्रदाय

वेदभिन्न दर्शनों में पहले चार्वाक का नाम लिया जाता है। यह एक भौतिकवादी दर्शन है। इसके आचार्य बृहस्पति कहे जाते हैं। यह केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानता है। आत्मा, परमात्मा और परलोक को स्वीकार नहीं करता। भारत के समस्त दर्शनों ने इसका जोरदार खण्डन किया है। फिर भी आज वह जीवित है। सम्प्रदाय के रूप में नहीं, ग्रन्थों में उसकी सत्ता है। जनता में वह लोकप्रिय रहा है। आज उसका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, लेकिन ग्रन्थों में पूर्वपक्ष के रूप में उसकी सत्ता आज भी है। वैदिक, जैन और बौद्ध सभी ने इसके सिद्धान्तों का खण्डन किया है।

आचार्य बृहस्पति प्रत्यक्षवादी विचारक था। उसके अनुसार सृष्टि के निर्माण के चार तत्त्व हैं–भूमि, जल, अग्नि और वायु। आकाश तत्त्व को वह स्वीकार नहीं करता। क्योंकि उसका किसी भी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता। तत्त्व चतुष्टय से ही शरीर की उत्पत्ति होती है। उनके मिलन से चैतन्य की भी उत्पत्ति हो जाती है। जब शरीर नष्ट हो जाता है, तब चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। इस मत में चैतन्य-विशिष्ट देह ही आत्मा है, जीव है।

चार्वाक अभिमत प्रमाण

अभिमत तत्वों का परिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से हो जाता है। प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष। चार्वाक अनुमान को प्रमाण नहीं मानता। क्योंकि व्याप्ति का अभाव है। कार्य-कारण का अभाव है। इस मत में शब्द भी प्रमाण नहीं है। क्योंकि विश्वासयोग्य व्यक्ति के द्वारा कथित शब्द ही प्रमाण है। जो प्रत्यक्ष देखे

जा सकते हैं। वेदों को प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः एकमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष न होने के कारण स्वर्ग तथा नरक को भी अस्वीकार कर दिया। परलोक को मानना बेबुनियाद की बात को मानने जैसा है। क्योंकि वह प्रमाणसिद्ध नहीं है। इस भौतिकवादी दर्शन के दो विलक्षण सिद्धान्त हैं—जड़वाद और दूसरा अनीश्वरवाद। संक्षेप में, यही चार्वाक दर्शन की प्रमाण और प्रमेय व्यवस्था है। इस परम्परा में भी अनेक आचार्य समय-समय पर होते रहे हैं।

बौद्ध सम्प्रदाय

बौद्ध धर्म की स्थापना गौतम बुद्ध ने ईसा पूर्व ५३५-४८५ में की थी। बुद्ध के बाद में उनकी शिक्षाओं की विभिन्न व्याख्याओं के आधार पर १८ सम्प्रदायों में, बुद्ध का धर्म विभक्त हो गया। परन्तु मुख्य सम्प्रदाय दो हैं—हीनयान और महायान। हीनयान को स्थविरवाद तथा सर्वास्तित्ववाद भी कहा जाता है।

सर्वास्तित्ववाद की दो मुख्य शाखाएँ हैं—वैभाषिक और सौत्रान्तिक। वैभाषिक का अर्थ है—विशिष्ट भाष्य। विभाषा त्रिपिटक का टीका ग्रन्थ है। विभाषा के आधार पर विकसित होने के कारण इस शाखा का नाम वैभाषिक पड़ा। इस शाखा के प्रसिद्ध दार्शनिक दिङ्नाग और धर्मकीर्ति हैं। दिङ्नाग गुरु हैं, और धर्मकीर्ति शिष्य हैं। इन वैभाषिकों का मत है कि ज्ञान और ज्ञेय दोनों सत्य हैं, मिथ्या नहीं। ये पदार्थ की सत्ता मानते हैं।

सूत्रान्त अथवा बुद्ध के मूल वचनों के आधार पर विकास करनेवाले सौत्रान्तिक कहे जाते हैं। अतः इस शाखा का नाम सौत्रान्तिक पड़ गया। इस शाखा के मुख्य प्रवर्तक ईस्वी सन् ३०० में होने वाले कुमारलब्ध हैं। सौत्रान्तिकों का मत है कि ज्ञान सत्य है, परन्तु ज्ञेय की सत्यता अनुमान के द्वारा ज्ञात होती है। ज्ञान का अर्थ है—प्रमाण और ज्ञेय का अर्थ है—प्रमेय। अतः बौद्ध तार्किकों ने प्रमाण दो माने हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। दिङ्नाग बौद्ध न्याय के पिता माने जाते हैं। धर्मकीर्ति ने बौद्ध न्याय को चरम-शिखर पर पहुँचा दिया था।

महायान सम्प्रदाय का उदय हीनयान सम्प्रदाय की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। महायान की दो शाखाएँ हैं—माध्यमिक और योगाचार। इनमें से मध्यम मार्ग का अनुसरण करने के कारण पहली शाखा का नाम माध्यमिक पड़ा। इस शाखा के मुख्य प्रवर्तक ईस्वी सन् १४३ के लगभग होने वाले आचार्य नागार्जुन थे। माध्यमिकों का मत है, कि ज्ञेय तो

असत्य है ही, ज्ञान भी सत्य नहीं है। इस शाखा के विद्वानों का सिद्धान्त है, शून्यवाद। शून्यवाद का अर्थ, जैसा कि लोग समझते हैं—अभाव नहीं है। शून्यवाद का अर्थ है, कि वस्तु का निर्वचन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वस्तु अनिर्वचनीय है। न वह सत है, न असत्, न उभय है, और न अनुभय ही है।

महायान की दूसरी शाखा का नाम है—योगाचार। योगाचार शाखा यौगिक क्रियाओं में आस्था रखती है, और मानती है, कि बोधि की उपलब्धि एकमात्र योगाभ्यास के द्वारा ही हो सकती है। अतएव इसका नाम योगाचार पड़ गया। इस शाखा के मुख्य विद्वान् हैं—मैत्रेयनाथ, आर्य असंग और आर्य वसुबन्धु। आर्य असंग का काल ४०० ईस्वी माना गया है। वसुबन्धु ने विज्ञानवाद को जन्म दिया। विज्ञानवाद बौद्ध दर्शन का चरम विकास कहा जा सकता है। विज्ञानवाद के अनुसार एकमात्र विज्ञान ही परम सत्य है। बाह्य वस्तु, विज्ञान का ही प्रतिबिम्ब है। उसकी वास्तविक सत्ता नहीं है। विज्ञानवाद के बाद में, बौद्ध न्याय का विकास हुआ। न्याय के प्रवर्तक हैं—दिङ्नाग और धर्मकीर्ति। न्याय प्रवेश, प्रमाण-समुच्चय, प्रमाण वार्तिक, न्याय बिन्दु, हेतु बिन्दु और बौद्ध तर्क भाषा—बौद्धों के प्रसिद्ध न्याय ग्रन्थ हैं।

जैन सम्प्रदाय

जैन धर्म और दर्शन अत्यन्त प्राचीन हैं। जैन परम्परा के प्रवर्तक अथवा संस्थापक तीर्थंकर होते हैं। सर्वप्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव थे, और चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर थे। जैन परम्परामान्य आगम भगवान् महावीर की वाणी हैं। महावीर और बुद्ध, दोनों समकालीन थे। महावीर ने जो कुछ बोला था, वह आगम कहलाता है और बुद्ध ने जो बोला था, वह त्रिपिटक कहाता है। आगम जैन सम्प्रदाय के शास्त्र हैं। धर्म और दर्शन का मूल उद्गम, आगम एवं शास्त्र हैं। जैन परम्परा इन आगमों में अथाह आस्था रखती है, और इनके विधानों के अनुसार साधना होती है। मूल आगम पांच विभागों में विभक्त हैं—अंग, उपांग, मूल, छेद और चूलिका।

जैन परम्परा का दार्शनिक साहित्य, चार युगों में विकसित हुआ है —आगम युग, दर्शन युग, अनेकान्त व्यवस्था युग और न्याय युग, तर्क युग अथवा प्रमाण युग। आगम युग में, मूल आगम और उसके व्याख्या ग्रन्थ —निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका समाहित होते हैं। इस युग के प्रसिद्ध

आचार्य हैं—भद्रबाहु, संघदासगणि, जिनदास महत्तर, शीलांक एवं मलयगिरि आदि। दर्शन-युग वाचक उमास्वाति से प्रारम्भ होता है। उन्होंने षड्द्रव्य, पञ्च अस्तिकाय, सप्त तत्त्व और नव पदार्थों का नूतन शैली से प्रतिपादन किया था। इस युग के प्रसिद्ध आचार्य हैं—वाचक उमास्वाति, आचार्य कुन्दकुन्द और नेमिचंद्र सूरि। अनेकान्त व्यवस्था युग, जैन साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं चिरस्मरणीय है। क्योंकि बौद्धों का शून्यवाद तथा विज्ञानवाद, वेदान्त का अद्वैतवाद तथा मायावाद, सांख्य का प्रकृतिवाद, मीमांसा का अपौरुषेयवाद और न्याय-वैशेषिक का आरम्भ एवं परमाणुवाद परस्पर द्वन्द्व युद्ध कर रहे थे। उसे मिटाने के लिए अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वाद की युगानुकूल व्याख्या आवश्यक थी। इस कार्य को किया—आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने तथा आचार्य समन्तभद्र ने। सिद्धसेन का सन्मति तर्क और समन्तभद्र की आप्त-मीमांसा—इस द्वन्द्वात्मक युग के प्रतिनिधि ग्रन्थ माने जाते हैं।

प्रमाण युग अथवा तर्क युग

इस युग में प्रमेय की नहीं, प्रमाण की चर्चा अधिक गम्भीर एवं व्यापक हो चुकी थी। नैयायिक और बौद्ध परस्पर घात-प्रतिघात कर रहे थे। एक दूसरे पर आरोप कर रहे थे। एक दूसरे का खण्डन कर रहे थे। जैन दार्शनिक कब तक तटस्थ रहते? उन्हें अपने सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए, नैयायिक और बौद्धों का खण्डन भी करना पड़ा। इस युग के प्रसिद्ध आचार्य थे—सिद्धसेन दिवाकर, वादिदेव सूरि, आचार्य हेमचन्द्र तथा उपाध्याय यशोविजय, अकलंक भट्ट, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र और धर्मभूषण आदि। जैन न्याय के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—न्यायावतार, प्रमाण-नयतत्त्वालंकार, प्रमाण मीमांसा, तथा जैन तर्क भाषा, और न्याय विनिश्चय, परीक्षा-मुख, प्रमेयकमल मार्तण्ड तथा न्याय दीपिका आदि। जैन तार्किकों ने प्रमाण के दो भेद किये हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के दो भेद—सांव्यवहारिक और पारमार्थिक। पहले के छह भेद और दूसरे के दो भेद—सकल एवं विकल। परोक्ष के पाँच भेद हैं—स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। प्रमाण विभाजन की जैनाचार्यों की यह अपनी मौलिक सूझ-बूझ है। प्रमाण के विषय में आगे विशेष लिखा जायेगा। यहां संक्षिप्त परिचय ही दिया गया है।

सांख्य-योग सम्प्रदाय

वैदिक दर्शन के षट्-सम्प्रदाय माने जाते हैं—सांख्य-योग, न्याय-

वैशेषिक और मीमांसा-वेदान्त। लेकिन सांख्य और योग से वेदों का सीधा सम्बन्ध नहीं है। सांख्य दर्शन में हिंसामूलक वैदिक धर्म का विरोध किया गया है। योग का सीधा सम्बन्ध शरीर और चित्तवृत्तियों से है। योग के दो भेद हैं—राजयोग और हठयोग। अतः दोनों दर्शनों का सम्बन्ध वेदों से नहीं है। इनका सम्बन्ध श्रमण-परम्परा से अधिक है। क्योंकि दोनों ही अहिंसा धर्म में पूरा-पूरा विश्वास रखते हैं। योग दर्शन में, यम और नियमों का पालन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी माना गया है। पाँच यमों में पहला यम अहिंसा माना गया है।

कपिल का सांख्य

सांख्य दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं। इस दर्शन में पच्चीस तत्व माने गये हैं। मूल में तो दो ही तत्व हैं—प्रकृति और पुरुष। दोनों का संयोग संसार है, और वियोग है अपवर्ग अर्थात् मोक्ष। दोनों के भेदविज्ञान से सांसारिक बन्धन कट जाते हैं। इस दर्शन में ज्ञान की प्रधानता है। सांख्य में प्रमाण तीन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। प्रसिद्ध आचार्य हैं—कपिल, आसुरि, पंचशिख और ईश्वरकृष्ण। इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—सांख्य सूत्र, सांख्य प्रवचन भाष्य, सांख्य कारिका और उस पर सांख्य तत्व कौमुदी। सांख्य ने योग दर्शन की साधना को अपनाया है। उसकी अपनी कोई साधना प्रक्रिया नहीं है। उसमें तो प्रकृति और पुरुष के भेदविज्ञान पर विशेष बल दिया गया है।

पतञ्जलि का योग

योग दर्शन के उद्भावक महर्षि पतञ्जलि हैं। इन्होंने योग दर्शन सूत्र की रचना की है। योगदर्शन ने सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों को अपनाया है। योग का मत है, कि केवल व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ से ही मोक्ष नहीं हो सकता। प्रकृति और विकृति के प्रभाव से मुक्त होने के लिए चित्त की वृत्तियों का शोधन और नियन्त्रण आवश्यक है। यही है, राज योग।

योगदर्शन में सांख्य की भाँति पच्चीस तत्त्व हैं, और प्रमाण हैं तीन—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। योग का भारत में व्यापक प्रभाव था, और उसका प्रसार-प्रचार भी बहुत था। योग की अनेक शाखा-प्रशाखाएँ होती चली गई हैं। परन्तु योग के मुख्य भेद दो हैं—राजयोग तथा हठयोग। राजयोग में मन की एकाग्रता का वर्णन है, और हठयोग में शरीर की विशुद्धि के लिए विभिन्न आसन, मुद्रा और बन्धों का वर्णन है।

योग में शरीर की शुद्धि और शरीर की दृढ़ता भी तो परम आवश्यक है। अतः योग क्रियात्मक है।

योग का साहित्य

पतञ्जलिकृत योग सूत्र, योग-सूत्र पर व्यास भाष्य, भाष्य पर तत्व वैशारदी। राजा भोज ने सूत्रों पर भोज वृत्ति लिखी। विज्ञानभिक्षु ने पातञ्जल भाष्य वार्तिक की रचना की। योग साहित्य, सन्त परम्परा के सन्तों ने भी समय-समय पर अपनी भाषा में लिखा है। सांख्य और योग एक दूसरे के पूरक दर्शन सम्प्रदाय रहे हैं।

न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय

न्याय और वैशेषिक, दोनों एक-दूसरे के पूरक दर्शन हैं, विरोधी नहीं। दोनों में कुछ मौलिक भेद भी हैं—न्याय दर्शन प्रमाण प्रधान है, और वैशेषिक दर्शन पदार्थ प्रधान है। प्रमाण की विस्तृत व्याख्या न्याय दर्शन में की है, और पदार्थ-मीमांसा वैशेषिक दर्शन की अपनी विशेषता है। लेकिन आगे चलकर दोनों में समन्वय हो गया था। न्याय दर्शन चार प्रमाण स्वीकार करता है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। वैशेषिक दर्शन सप्त पदार्थों को स्वीकार करता है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। विशेष पदार्थ को स्वीकार करने के कारण ही इस दर्शन को वैशेषिक दर्शन कहते हैं।

विकास के तीन युग

न्याय और वैशेषिक सम्प्रदाय के तीन युग हैं—प्राचीन युग, मध्य युग और नवीन युग। महर्षि गौतम के न्याय-सूत्र, उन पर वात्स्यायन भाष्य, न्यायवार्तिक, न्याय तात्पर्य वृत्ति और न्याय मञ्जरी आदि ग्रन्थ प्राचीन युग के ग्रन्थ हैं। महर्षि कणाद के सूत्र, उन पर प्रशस्तपाद भाष्य और किरणावली आदि वैशेषिक ग्रन्थ भी प्राचीन युग के ग्रन्थ हैं। आचार्य उदयन के दो ग्रन्थ—न्याय कुसुमाञ्जलि और आत्म तत्त्वविवेक भी प्राचीन युग के महत्वपूर्ण न्याय ग्रन्थ हैं। मध्ययुग में बौद्ध और जैन न्याय की गणना की है। आचार्य दिङ्नाग और आचार्य धर्मकीर्ति बौद्ध-न्याय के प्रसिद्ध नैयायिक हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, अकलंक भट्ट, वादिदेव सूरि, आचार्य प्रभाचन्द्र, आचार्य हेमचन्द्र सूरि और उपाध्याय यशोविजय आदि जैन-न्याय के प्रसिद्ध एवं विख्यात आचार्य रहे हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन का नवीन युग गंगेश उपाध्याय के चिन्तामणि ग्रन्थ से प्रारम्भ होता है। मणि पर प्रसिद्ध टीका का नाम—आलोक है। इस परम्परा के प्रसिद्ध

आचार्य हैं—पक्षधर मिश्र, रघुनाथ शिरोमणि, गदाधर भट्टाचार्य और मथुरा प्रसाद तथा जगदीश आदि प्रसिद्ध व्याख्याकार हैं।

संयुक्त सम्प्रदाय

नवीन न्याय युग के बाद न्याय-वैशेषिक दर्शन का एक संयुक्त सम्प्रदाय अस्तित्व में आया था। इस काल में, न्याय-वैशेषिक पर संयुक्त ग्रन्थों की रचना होने लगी थी। इस युग के ग्रन्थों को प्रकरण ग्रन्थ कहा जाता है। इस युग के प्रसिद्ध प्रकरण ग्रन्थ हैं—शिवादित्य की सप्त पदार्थी, भासर्वज्ञ का न्याय सार, केशव मिश्र की तर्क भाषा, लौगाक्षि भास्कर की तर्क कौमुदी, अन्नं भट्ट का तर्क संग्रह और उसकी टीका दीपिका, विश्वनाथ पञ्चानन का भाषा परिच्छेद और उसकी विस्तृत टीका न्याय सिद्धान्त मुक्तावली आदि। तर्क संग्रह पर न्यायबोधिनी टीका और पदकृत्य टीका इसी संयुक्त सम्प्रदाय के प्रसिद्ध ग्रन्थ माने जाते हैं।

न्याय-वैशेषिक वैदिक नहीं

यह सम्प्रदाय भी वैदिक नहीं है। क्योंकि यह वेदों को नित्य एवं अपौरुषेय स्वीकार नहीं करता। इसके अनुसार वेद, ईश्वर की वाणी हैं। इसके मत में शब्द अनित्य है। वैदिक ज्ञान में विश्वास होते हुए भी वैदिक यज्ञ एवं होम आदि क्रिया-काण्ड में विश्वास नहीं है। शब्द प्रमाण की अपेक्षा, इसमें अनुमान प्रमाण को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। जबकि वेदमूलक सम्प्रदायों में शब्द प्रमाण का सर्वाधिक महत्व ही माना है।

मीमांसा-वेदान्त संप्रदाय

मीमांसा सम्प्रदाय तथा वेदान्त सम्प्रदाय-दोनों वेदमूलक हैं। वेद ही दोनों का आधार है। लेकिन दोनों एक-दूसरे के पूरक नहीं, विरोधी हैं। मीमांसा का जन्म धर्म जिज्ञासा से हुआ है, तथा ब्रह्म जिज्ञासा से वेदान्त का। वेदगत क्रिया-काण्ड मीमांसा का आधार है और उसका ज्ञान-काण्ड वेदान्त का। मीमांसा यज्ञ को धर्म मानता है, और वेदान्त ब्रह्म ज्ञान को। दोनों की स्थिति एवं सत्ता एक-दूसरे के विपरीत है, फिर भी यह तो सत्य है, कि दोनों का मूल वेद है। अतः यथार्थ अर्थ में, दोनों वेदमूलक सम्प्रदाय हैं।

मीमांसा संप्रदाय

मीमांसा के प्रवर्तक हैं, महर्षि जैमिनि। मीमांसा-सूत्रों की रचना, इन्होंने की थी। उसका नाम है—द्वादश लक्षणी। इसमें द्वादश अध्याय हैं। इस पर शबर स्वामी का शाबर भाष्य है। कुमारिल भट्ट ने इस पर श्लोक वार्तिक की रचना की है। प्रभाकर ने भी इस पर विशाल टीका

रची है। मीमांसा परिभाषा, अर्थ संग्रह और मीमांसा न्याय प्रकाश आदि इस परम्परा के प्रकरण ग्रन्थ हैं, जिनका अध्ययन मीमांसा दर्शन को समझने के लिए आवश्यक है। मीमांसा दर्शन की अपनी पदार्थ मीमांसा भी है, प्रमाण मीमांसा भी है। मीमांसा दर्शन में षट् प्रमाण स्वीकृत हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अथवा आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। वेद अपौरुषेय हैं। शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। प्रमाणों में आगम प्रमाण अथवा शब्द प्रमाण का विशेष महत्त्व है।

वेदान्त संप्रदाय

इसके प्रवर्तक महर्षि व्यास हैं। वेदान्त सूत्र इनका मुख्य ग्रन्थ है। इसके चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय के चार पाद हैं। आचार्य शंकर ने इस पर विशालकाय शांकर भाष्य की रचना की है। अद्वैत वेदान्त का यह जीवानुभूत माना जाता है। वेदान्त सम्प्रदाय के शेष ग्रन्थ, या तो इसका समर्थन करते हैं, या फिर विरोध करते हैं। इसके अनुसार अद्वैत है, ब्रह्म। वह सत्य है, ज्ञान रूप है, और आनन्दमय है। ब्रह्म सत्य है, और यह दृश्यमान जगत मिथ्या है। माया ब्रह्म की शक्ति है। अविद्या के कारण ही जगत् की सत्ता है। इस सम्प्रदाय में एक ही तत्व है, और वह है, एक मात्र ब्रह्म। शांकर भाष्य पर अनेक टीकाएँ हैं, लेकिन भामती, परिमल और कल्पतरु विशेष प्रसिद्ध रही हैं। इस परम्परा के अनेक प्रकरण ग्रन्थ हैं। परन्तु विशेष प्रसिद्ध हैं-वेदान्तसार, वेदान्त परिभाषा, अद्वैत सिद्धि और वेदान्त मुक्तावली।

प्रमेय और प्रमाण

ब्रह्म, जीव, आत्मा, ईश्वर, जगत् और माया—ये सब प्रमेय तत्त्व हैं। वेदान्त षट् प्रमाण स्वीकार करता है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। वेदान्त परिभाषा ग्रन्थ में, प्रमाणों का अति-विस्तृत तथा अति सुन्दर वर्णन किया गया है। वेदान्त परिभाषा ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है—प्रमाण, प्रमेय और प्रयोजन। वेदान्तसार प्रमेय बहुल ग्रन्थ माना जाता है। संक्षेप में, यह वेदान्त का सार है।

□

२

भारतीय दर्शनों का संक्षिप्त परिचय

दर्शन-शास्त्र का जन्म, आत्मा की खोज से प्रारम्भ होता है। भारत के समस्त दर्शनों का लक्ष्य ही है—आत्मा का अनुसन्धान। आत्मा के स्वरूप का स्वीकार तथा उसका प्रतिपादन भिन्न-भिन्न होने पर भी उनका चरम लक्ष्य एक ही है—मोक्ष, निर्वाण और मुक्ति। भारत के प्रत्येक दर्शन की साधना, उसी लक्ष्य को प्राप्त करने की है। साधना के तीन अंश हैं—ज्ञान, कर्म एवं भक्ति। वैदिक दर्शन की यही साधना रही है। जैन दर्शन में भी साधना के तीन अंग रहे हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र। बौद्ध दर्शन भी तीन विभाग करता है—प्रज्ञा, शील और समाधि। अन्य जो भी साधनाएँ हैं, वे सब इन तीनों का ही विस्तार किया गया है, अथवा संक्षेप किया गया है।

वैदिक साधना के आधारभूत ग्रन्थ वेद और उपनिषद् माने जाते हैं। जैन साधना के आधार आगम हैं, जो भगवान् महावीर की वाणी माने जाते हैं। बौद्ध साधना के आधार पिटक हैं, जो बुद्ध की वाणी माने गये हैं। इसी कारण भारत के दर्शन-शास्त्र अथवा भारत की दार्शनिक सम्प्रदाय दो भागों में विभक्त हैं—श्रमण-दर्शन और ब्राह्मण दर्शन। श्रमण और ब्राह्मण—दोनों में विचारभेद भी हैं, और आचार भेद भी हैं। भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्व दो हैं—विचार और आचार। विचार और आचार में समन्वय परम आवश्यक माना गया है।

श्रमण-दर्शन की तीन धाराएँ रही हैं—जैन, बौद्ध और आजीवक।

जैन-धारा के विचार और आचार के आदर्श पुरुष हैं, तीर्थंकर देव। यह तीर्थंकर का धर्म, दर्शन और संस्कृति ही आज जैन धर्म के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध रही है। तथागत का धर्म, दर्शन और संस्कृति ही आज बौद्ध धर्म कहा जाता है। आजीवक धर्म, दर्शन और संस्कृति के प्रवर्तक, गोशालक माने जाते हैं। आज उनका न कोई ग्रन्थ है, और न सम्प्रदाय। जैन और बौद्ध साहित्य से ही उसका परिचय उपलब्ध होता है। उसका मुख्य सिद्धान्त था—नियतिवाद। पुरुष का पुरुषार्थ कुछ भी नहीं कर सकता। पुरुषार्थ सर्वथा व्यर्थ होता है। एक जन-श्रुति के अनुसार, सम्राट अशोक पहले आजीवक पन्थ के अनुयायी थे, बाद में बौद्ध हो गये थे।

ब्राह्मण दर्शन की छह शाखाएँ हैं, जो इस प्रकार हैं—न्याय और वैशेषिक, सांख्य और योग तथा मीमांसा और वेदान्त। इनको वैदिक दर्शन भी कहा जाता है। यद्यपि वास्तविक रूप में, वैदिक दर्शन दो ही हैं—मीमांसा और वेदान्त। वेद के कर्मकाण्ड को मीमांसा दर्शन कहते हैं, और ज्ञान काण्ड को वेदान्त। सांख्य-योग यज्ञ में होने वाली हिंसा का घोर विरोध करते हैं। न्याय-वैशेषिक भी स्वतन्त्र दर्शन हैं, वे दोनों ही वेद-मूलक नहीं हैं। एक अन्य प्रकार से भी भारत के दर्शनों का विभाजन किया जा सकता है, जैसे आत्मवादी और अनात्मवादी। इस विभाजन में केवल दो दर्शन आते हैं—एक चार्वाक दर्शन और दूसरा क्षणिकवादी बौद्ध दर्शन। शेष सभी दर्शन आत्मवादी हैं।

जो दर्शन पूर्वजन्म, भूयोजन्म तथा आत्मा की अमरता में आस्थावान् हैं, वे आस्तिक हैं, आत्मवादी हैं। कर्म और कर्म-फल को मानने वाले आत्मवादी हैं। इस अर्थ में तो बौद्ध दर्शन भी आत्मवादी कहा जा सकता है। अब केवल एक चार्वाक दर्शन ही अनात्मवादी दर्शन बच जाता है। लेकिन आत्मा के सम्बन्ध में चार्वाक का कहना है, कि आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है। शरीर ही आत्मा है। मृत्यु ही अपवर्ग है और भौतिक सुख ही स्वर्ग है।

वस्तुतः चार्वाक दर्शन, उपनिषद् के एकान्त आत्मवाद की प्रतिक्रिया है। वेदों के हिंसात्मक यज्ञ-याग का विरोध किया, उपनिषद् के ज्ञानात्मक आत्मवाद ने। आत्मा के अमरत्व का विरोध किया, चार्वाक के भौतिकवाद ने। इस प्रकार वृहस्पति का सम्प्रदाय आत्मा, कर्म, फल, पूर्वजन्म और भूयोजन्म का प्रबल विरोध करता रहा। वृहस्पति चार्वाक सम्प्रदाय-

संस्थापक एवं प्रवर्तक माने जाते हैं। यह अपने युग के महान् तार्किक थे। इनकी भाषा चारु थी, अतः चार्वाक नाम से प्रसिद्ध हैं।

चार्वाक दर्शन

भारतीय दर्शनों में एकान्त रूप से भौतिकवादी दर्शन केवल चार्वाक ही है। वह ईश्वर को नहीं मानता। आत्मा को अभौतिक नहीं मानता। पूर्वजन्म तथा भूयोजन्म को नहीं मानता। पांच भूतों को मूल-तत्त्व स्वीकार करता है। एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। क्योंकि इन्द्रिय ग्राह्य परिज्ञान, केवल पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु का ही हो सकता है। अतः आकाश को भी वह पदार्थ मानने को तैयार नहीं है। क्योंकि आकाश का इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। साधारण लोगों में, यह दर्शन अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त कर चुका था। अतः लोगों ने इस दर्शन का नाम लोकायत दर्शन रखा था। लोकायत का अर्थ है—लोक में फैला हुआ विचार।

वेद प्रमाण नहीं

लोकायत दर्शन के प्रवर्तक बृहस्पति वेदों को प्रमाण स्वीकार नहीं करते। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों को भी प्रमाण नहीं मानते हैं। यज्ञ-याग में होने वाली हिंसा का विरोध करते थे। इस सम्प्रदाय के परम विद्वान जयराशि भट्ट थे। ये तार्किक तथा नैयायिक थे। इनका एक ग्रन्थ है—तत्त्वोपप्लव। गायकवाड़ संस्कृत ग्रन्थ-माला से इसका प्रकाशन हो चुका है। चार्वाक दर्शन अति प्राचीन दर्शन है, जिसका उल्लेख रामायण एवं महाभारत में भी उपलब्ध होता है।

जैन दर्शन

भारत के दर्शनों एवं धर्मों में यह भी एक अत्यन्त प्राचीन दर्शन और धर्म माना गया है। ऋषभदेव से वर्धमान महावीर तक चौबीस तीर्थंकर इसके आदर्श महापुरुष माने जाते हैं। वे सर्वदर्शी एवं सर्वज्ञ थे। नमस्कार मन्त्र, इस धर्म का मूल महामन्त्र है। इस धर्म में वीतराग एवं जिन की उपासना की जाती है। जिन के उपासक जैन कहे जाते हैं। जैन धर्म की साधना के छह अंग हैं—सामायिक, तीर्थंकर-स्तवन, गुरु वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। इन छह अंगों की उपासना, प्रति-

दिवस, श्रमण एवं श्रमणी भी करते हैं। श्रावक तथा श्राविका भी करते हैं। उपासकों का जो समुदाय है, उसे तीर्थ अथवा संघ कहा जाता है। आज, उसे समाज कहते हैं।

चार संप्रदाय

जैन धर्म, दर्शन और संस्कृति के अनुसार साधना करने वाले उपासक चार सम्प्रदायों में विभक्त हैं—श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी और तेरापन्थी। चारों में आचारभेद तो हैं, परन्तु विचार का भेद नहीं है। आचारभेद भी श्रमणों का परस्पर आचारभेद हैं, श्रावकों का नहीं। लेकिन श्रावक, श्रमणों के उपासक हैं, अतः उनमें भी आचारभेद हो गया है। कुछ परिवर्तन श्रावकों में जाति, प्रान्त, भाषा और परिवेश के कारण भी हुए हैं।

सिद्धान्तभेद नहीं

जिस प्रकार वेद-मूलक धर्म एवं दर्शनों में, सिद्धान्तकृत भेद के दुर्ग खड़े हो गये हैं, वैसे विभेद जैन-परम्परा में नहीं हुए हैं। वेद-मूलक मीमांसा दर्शन में और वेदान्त दर्शन में, कितना विरोधी स्वर गूँजता है। कहाँ हिंसाप्रधान यज्ञ-याग और कहाँ ज्ञान-उपासना के शान्त-शीतल निर्झर। कहाँ परमाणुवादी वैशेषिक और कहाँ एक प्रकृतिवादी सांख्य। कहाँ वाद-जल्प एवं वितण्डावादी न्याय दर्शन और कहाँ एकान्त गिरि-गुहावासी योग दर्शन। न समन्वय और न किसी भी प्रकार का परस्पर सन्तुलन।

बुद्ध प्रमाणित बौद्ध धर्म एवं दर्शन में, सिद्धान्तकृत परस्पर भारी विभेद रहा है। वैभाषिक, सौत्रान्तिक, माध्यमिक और योगाचार में किसी भी प्रकार का सामञ्जस्य नहीं है। परस्पर विरोध ही नहीं, कटुता भी है।

जैन परम्परा में, किसी भी प्रकार का सैद्धान्तिक भेद नहीं रहा है। श्वेताम्बर और दिगम्बरों में, तीर्थों को लेकर तो विरोध रहा है, लेकिन तीर्थंकरों के सम्बन्ध में विरोध नहीं है। मान्यताभेद का आधार, आचार-भेद होता है। सिद्धान्तभेद का आधार, विश्वासभेद होता है। अहिंसा और अनेकान्त के कारण भी जैन परम्परा में समन्वय एवं सन्तुलन अधिक है। वैर, विरोध और कटुता नहीं है।

मुख्य सिद्धान्त

जैन दर्शन का सर्वतो मुख्य सिद्धान्त है, कर्मवाद। जीव और कर्म

का संयोग अनादिकाल से है। यही जीव का बन्धन कहा जाता है। बन्धन से मुक्त हो जाना ही मोक्ष है। साधना का मुख्य लक्ष्य यही है। इसके लिए संवर और निर्जरा आवश्यक है। संसार का और संसार के दुःख-क्लेश का कारण है—आस्रव और बन्ध। आस्रव को छोड़ना ही वस्तुतः साधना है।

भारतीय दर्शनों को जैनदर्शन की सबसे बड़ी देन है—नयवाद, अनेकान्तवाद, सप्तभंगीवाद और स्याद्वाद। जैनदर्शन के भव्य प्रासाद के ये चार आधारभूत स्तम्भ माने जाते हैं। स्याद्वाद के महादुर्ग में प्रवेश के ये चार द्वार हैं। इन चारों को समझने के लिए ही तो प्रमाणवाद की परम आवश्यकता है।

प्रमाणवाद में भी जैन परम्परा के आचार्यों ने नयी व्यवस्था प्रदान की है। प्रमाण के दो भेद—प्रत्यक्ष और परोक्ष—करके अन्य दर्शनों द्वारा मान्य समस्त प्रमाणों को दो में ही समाहित कर लिया गया है। अतः न्यायदर्शन के इतिहास में, प्रमाणवाद भी अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। उस व्यवस्था के प्रथम सूत्रधार हैं, सिद्धसेन दिवाकर, जिनका काल ईस्वी सन् ४८० माना गया है। वाचक यशोविजयजी न्यायाचार्य ने प्रमाण व्यवस्था को अन्तिम शिखर पर पहुँचा दिया।

बौद्ध-दर्शन

भगवान् बुद्ध ने चार आर्यसत्य का उपदेश दिया था—दुःख, दुःख-हेतु, दुःखनिरोध और उसका उपाय। जरा, मरण और रोग, ये संसार के दुःख हैं। उसके हेतु अथवा कारण को बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद कहा। प्रतीत्य का अर्थ है—ऐसा होने पर अर्थात् कार्य के प्रति कारणों के एकत्रित होने पर समुत्पाद अर्थात् उत्पन्न होना। संसार का मूल कारण अज्ञान है, उसका नाश हो जाने से दुःखनिरोध की प्राप्ति होती है। उसका उपाय तो अष्टांग साधन हैं। सम्यग्दर्शन एवं सम्यक् संकल्प आदि हैं। बौद्ध दर्शन के अनुसार संसार का प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। किसी पदार्थ में स्थिरता नहीं है।

बौद्ध दर्शन चार सम्प्रदायों में विभक्त है—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। वैभाषिक बाह्य वस्तु को प्रत्यक्ष मानते हैं, परन्तु सौत्रान्तिक बाह्य वस्तु को अनुमेय मानते हैं। ये दोनों बाह्यार्थवादी कहे जाते हैं। योगाचार ज्ञानवादी है। माध्यमिक शून्यवादी है।

एक दूसरा विभाग भी है—हीनयान और महायान। यान का अर्थ है—मार्ग। छोटा रास्ता एवं बड़ा रास्ता। अनुदार मार्ग और उदार मार्ग। आचारप्रधान और ज्ञानप्रधान। इस प्रकार बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्ध धर्म निरन्तर विभक्त होता रहा है। जनश्रुति के अनुसार बौद्ध धर्म अष्टादश निकायों में विभक्त हो गया। थेरावाद और सर्वास्तिवाद हीनयान मार्ग के हैं और माध्यमिक, योगाचार तथा दिङ्नाग की सम्प्रदाय महायान मार्ग के हैं। दिङ्नाग की सम्प्रदाय को न्यायवादी भी कहा जाता है। वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक सम्प्रदायों का और उनके सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

वैभाषिक सम्प्रदाय

अभिधर्मकोश, बौद्धदर्शन का एक महत्वपूर्ण शास्त्र है, उसकी टीका या व्याख्या का नाम विभाषा अथवा महाविभाषा है, जिसके कारण सर्वास्तिवादी वैभाषिक कहे जाते हैं। अभिधर्मकोश वसुबन्धु का महान् ग्रन्थ है, जिसका पठन-पाठन सर्वत्र होता है। स्वयं वसुबन्धु ने इस पर एक टीका लिखी है। दूसरी टीका है यशोमित्र की।

सौत्रान्तिक सम्प्रदाय

विभाषा का अर्थ है, टीका। अभिधर्म एक प्रकार से सूत्रपिटक की टीका के रूप में है। क्योंकि बुद्ध का मूल उपदेश सूत्रपिटक में ही पाया जाता है। अतः जब एक सम्प्रदाय ने विभाषा अर्थात् टीका को आधार मानने का विरोध कर, यह कहा कि हमें अपने सिद्धान्तों को समझने के लिए 'सूत्र' तक पहुँचना चाहिए, तो वह सम्प्रदाय सौत्रान्तिक कहा गया। यह सम्प्रदाय भी बौद्ध परम्परा में अपना विशेष स्थान रखता है। कुछ विद्वान् दिङ्नाग सम्प्रदाय को ही सौत्रान्तिक कहते हैं। मूल सूत्रपिटक को मानने के कारण ही इसका नाम सौत्रान्तिक सम्प्रदाय पड़ा है।

माध्यमिक सम्प्रदाय

कालक्रम की दृष्टि से सर्वास्तिवाद के बाद नागार्जुन का माध्यमिक दर्शन अथवा शून्यवाद आता है। शून्यवाद के साथ ही बौद्ध इतिहास में, महायान का युग प्रारम्भ हो जाता है। महायान सूत्र एवं वैपुल्य सूत्र, महायान सम्प्रदाय का आधारभूत ग्रन्थ है। नागार्जुन का मूल ग्रन्थ जिसमें शून्यवाद की स्थापना की है, माध्यमिक सूत्र अथवा माध्यमिककारिका है। इस पर स्वयं नागार्जुन ने 'अकुतोभया' टीका की है। चन्द्रकीर्ति की प्रसन्न-

पदा टीका है। नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव का चतुःशतक ग्रन्थ भी महत्व-पूर्ण है।

योगाचार सम्प्रदाय

कालक्रम के अनुसार माध्यमिक शून्यवाद के बाद बौद्ध दर्शन में, योगाचार के विज्ञानवाद का स्थान है। विज्ञानवाद का प्रवर्तक असंग माना जाता है, जिसका लघुभ्राता वसुबन्धु था। कुछ विद्वान् मैत्रेयनाथ को विज्ञानवाद का प्रवर्तक कहते हैं। महायान संपरिग्रह, मैत्रेयनाथ का ग्रन्थ माना जाता है। विज्ञप्ति मात्रता प्रसिद्धि, विंशतिका, त्रिंशतिका आदि ग्रन्थ विज्ञानवाद के मुख्य ग्रन्थ हैं, जिनमें विज्ञानवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। माध्यमिक ने बाह्य और आन्तर, दोनों प्रकार के धर्मों का निषध किया था। परन्तु योगाचार ने कहा कि स्वसंवेदन होता है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता। स्वसंवेदन सत्य है। यह इस दर्शन का आधारभूत तर्क है। योगाचार आत्मा को नहीं, ज्ञान को मानता है। अतः यह विज्ञानवाद कहा जाता है।

दिङ्नाग का न्यायशास्त्र

बौद्ध परम्परा के महान् आचार्य दिङ्नाग बौद्ध न्याय-शास्त्र के जनक एवं पिता हैं। बौद्ध परम्परा के अनुसार दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य कहे जाते हैं। समग्र भारतीय दर्शन पर, विशेषतः न्याय-वैशेषिक तथा पूर्वमीमांसा के बाह्यार्थवाद पर इनका अत्यन्त प्रभाव पड़ा है। जिस प्रकार वेदान्त के अद्वैतवाद को नागार्जुन ने स्फूर्ति तथा प्रेरणा प्रदान को, उसी प्रकार भारतीय बाह्यार्थवाद को दिङ्नाग से पर्याप्त प्रेरणा मिली। दिङ्नाग ने विशेषकर न्याय के वात्स्यायन भाष्य पर पूरे बल से आक्रमण किया था। उसका उत्तर उद्योतकर ने अपने न्यायवार्तिक में दिया। बौद्ध-न्याय के संघर्ष ने भारत के कतिपय सबसे महान् दार्शनिक जैसे उद्योतकर, धर्मकीर्ति, कुमारिल, प्रभाकर, धर्मोत्तर, वाचस्पति मिश्र, जयन्त, श्रीधर और आचार्य उदयन आदि को जन्म दिया।

दिङ्नाग सम्प्रदाय

दिङ्नाग का मुख्य ग्रन्थ, जिसने भारतीय दर्शन में क्रान्ति उत्पन्न कर दी, 'प्रमाण समुच्चय' है। इसके अतिरिक्त भी इनके अनेक ग्रन्थ हैं, जैसे कि न्याय प्रवेश एवं आलम्बन परीक्षा आदि। दिङ्नाग का उत्तरा-

धिकारी, दिङ्नाग के समान ही महान् प्रतिभाधर धर्मकीर्ति था। धर्मकीर्ति दिङ्नाग के एक शिष्य ईश्वरसेन के शिष्य थे। धर्मकीर्ति के मुख्य ग्रन्थ, प्रमाणवार्तिक, हेतुबिन्दु और न्यायबिन्दु आदि हैं।

बौद्ध परम्परा के छह महान् आचार्य थे—नागार्जुन, आर्यदेव, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति। नागार्जुन और आर्यदेव—ये दोनों शून्यवाद के प्रवर्तक थे। असंग और वसुबन्धु—ये दोनों विज्ञानवाद के जनक थे। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति—ये दोनों न्यायवाद के संस्थापक थे। इनमें भी सर्वाधिक गौरवपूर्ण स्थान, बौद्ध साहित्य में, वसुबन्धु का था। क्योंकि केवल वसुबन्धु को ही द्वितीय बुद्ध कहा गया है।

प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था

आचार्य दिङ्नाग ने कहा, कि वस्तु दो प्रकार की है। एक बाह्य जगत् में अस्तित्व रखने वाला, क्षणिक 'स्वलक्षण' जो कि वैभाषिक के माने धर्मों के समान अनन्त हैं। वह सर्वथा ही विशेष तत्व है, अर्थात् दो या अधिक स्वलक्षणों में कोई सामान्य तत्व द्रव्य, अवयवी एवं जाति के रूप में नहीं है। प्रत्येक अपने में अलग तत्व है। वह स्वलक्षण समय की दृष्टि से स्थिरता नहीं रखता। देश की दृष्टि से विस्तार नहीं रखता। अनेक क्षणों में रहने वाला, कोई सामान्यधर्मी तत्व नहीं है। क्योंकि स्वलक्षण एक ही क्षण रहता है। यही परमार्थ सत् है, क्योंकिवही अर्थक्रियाक्षम है। जलाने का काम अग्नि के स्वलक्षण से हो सकता है, न कि सामान्य लक्षण अर्थात् मानस अग्नि से।

दूसरा तत्त्व मानस है, अर्थात् जो केवल हमारे विचार में है। परन्तु बाह्य जगत् में नहीं है। यह सामान्य लक्षण है, जिसका अर्थ है, अनेक वस्तुओं को एक सामान्य या जाति के रूप में देखना। न्याय-वैशेषिक ने कहा था, कि सामान्य भी अनेक गायों में रहने वाला गोत्व या अनेक घटों में रहने वाला घटत्व भी एक बाह्यसत् है। दिङ्नाग ने इसका घोर विरोध किया, उसने कहा, कि सामान्य एक मानस तत्त्व मात्र है, उसका बाहरी जगत् में कोई अस्तित्व नहीं, वह 'अतद् व्यावृत्ति' रूप है। अनेक गायों में रहने वाला गोत्व विधि रूप भाव पदार्थ नहीं, अपितु अनेक गायों की अगो (अतद्) अर्थात् गज-अश्व आदि से भिन्न होना (व्यावृत्ति) ही उस सामान्य का स्वरूप है, और यह अतद् व्यावृत्ति मानस धर्म है। अतः प्रमाण भी दो प्रकार का है—प्रमाण अर्थात् ज्ञान, विषय को ग्रहण करने वाला।

एक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है, जिससे स्वलक्षण का ग्रहण होता है, वह प्रत्यक्ष, सामान्य अर्थात् आकार-शून्य स्वलक्षण का ग्रहण करता है। अतः वह निर्विकल्पक होता है, अर्थात् वह अतीन्द्रिय है। स्वलक्षण के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही ग्रहण करते हैं। परन्तु उस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के होते ही हमारा ज्ञान उसके साथ सामान्य या आकार को जोड़ देता है, इस प्रकार सामान्य लक्षण तत्त्व का जो हमें ज्ञान होता है, वह सविकल्पक अथवा अध्यवसाय कहा जाता है। वह सविकल्पक है, क्योंकि उसमें, सामान्य की मानस कल्पना विद्यमान है। स्मरणात्मक ज्ञान भी सामान्य लक्षण को ही विषय करता है। यह ज्ञान भी अर्थक्रियाक्षम नहीं है, अर्थात् स्मरणात्मक अग्नि जला नहीं सकती। पीछे कहा गया है, कि ज्ञान दो प्रकार का है—एक ग्रहण और दूसरा अध्यवसाय।

प्रमाण व्यवस्था

प्रमाण की दृष्टि से प्रमाण दो प्रकार के हैं—एक प्रत्यक्ष और दूसरा अनुमान। दिङ्नाग के अनुसार वस्तु दो प्रकार की है—एक बाह्य सत् स्वलक्षण और दूसरी मानस वस्तु अर्थात् सामान्य लक्षण। अतः ज्ञान भी दो प्रकार का है—एक ग्रहण और दूसरा अध्यवसाय एवं अनुमान। ज्ञान के इन दो प्रकारों का भेद मौलिक है। वे दोनों प्रकार के ज्ञान परस्पर व्यावृत्त हैं, अर्थात् स्वलक्षण का ग्रहण प्रत्यक्ष से ही हो सकता है, और सामान्य लक्षण का ज्ञान, अध्यवसाय तथा अनुमान से ही हो सकता है। एक के क्षेत्र में दूसरा जा नहीं सकता। इसी को प्रमाण व्यवस्था कहा जाता है। न्याय-वैशेषिक 'प्रमाण-संप्लव' को मानता है। एक ही वस्तु अग्नि को हम प्रत्यक्ष से देख सकते हैं, उसका धूम से अनुमान कर सकते हैं, और शब्द प्रमाण द्वारा भी उसका ज्ञान हो जाता है, किया जा सकता है। इसी को प्रमाण-संप्लव कहते हैं।

बौद्धदर्शन का शून्यवाद

बौद्धदर्शन का शून्यवाद अत्यन्त जटिल सिद्धान्त है, जो आसानी से समझ में नहीं आता है। सामान्य रूप में इसका अर्थ अभाव होता है। कुछ भी न होना, शून्य समझा जाता है। परन्तु बात यह नहीं है। यदि कुछ भी नहीं है, तो फिर सिद्धान्त किसका ? वस्तुतः शून्यवाद को समझना सरल नहीं है, अत्यन्त कठिन है, इसका समझना।

पदार्थ की चार कोटि

संसार के किसी भी पदार्थ पर जब विचार किया जाता है, तब उसकी चार कोटि हो सकती हैं। वह सत् हो, वह असत् हो, वह उभय—सत् एवं असत् हो, वह अनुभय—न सत् हो, न असत् हो। प्रत्येक पदार्थ के विषय में ये चार कोटि बनती हैं। परन्तु शून्यवाद इनमें से किसी में भी नहीं आता। वह तो चतुष्कोटि विमुक्त है। बौद्ध दर्शन का यही तो शून्यवाद कहा जाता है। पदार्थों का स्वभाव शून्य रूप है, वह अनिर्वचनीय है, उसका शब्दों द्वारा निर्वचन नहीं किया जा सकता। बौद्ध दर्शन—द्रव्य अवयवी तथा पुद्गल अर्थात् आत्मा का निषेध करके प्रत्येक क्षण आविर्भूत होने वाले धर्मों की अनन्तता मानता है। इसके अनुसार यद्यपि आत्मा द्रव्य और अवयवी असत् है, तथापि क्षणिक धर्म सत् हैं, यथार्थ हैं। लेकिन शून्यवाद एक कदम आगे जाता है। वह कहता है, धर्म भी वस्तुतः असत् ही हैं। वस्तुओं पर जैसे-जैसे विचार करते हैं, वैसे-वैसे उनका तत्व बिखरता जाता है। तत्व की व्याख्या नहीं की जा सकती।

वस्तु निःस्वभाव

हीनयान के दर्शन ने अनात्मवाद और अद्रव्यवाद की स्थापना की। महायान के दर्शन ने अर्थात् शून्यवाद ने धर्म नैरात्म्य या धर्मशून्यता की स्थापना की। पुरातन बौद्ध दर्शन ने कहा, कि कारण से कार्य का बनना सम्भव नहीं, प्रतीत्य-समुत्पाद की स्थापना की थी, जिसके अनुसार कारणों के होने पर कार्य होता है, परन्तु कारणों से उत्पन्न नहीं होता। शून्यवाद के रूप में, नूतन दार्शनिक क्रान्ति ने प्रतीत्य-समुत्पाद को एक कदम आगे बढ़ाया। कारण के होने पर कार्य होता है। इसका अर्थ यह है, कि प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तु पर सापेक्ष है, अर्थात् उसका स्वभाव, स्वरूप या सत्त्व, दूसरों पर अपेक्षित है। उस वस्तु का अपना स्वभाव कुछ भी नहीं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु दूसरी पर सापेक्ष होने के कारण निःस्वभाव, स्वरूप-शून्य अथवा शून्य है। यही है, नागार्जुन का शून्यवाद, जिसने दार्शनिक जगत् में एक दिन तूफान खड़ा कर दिया था।

शून्यवाद और ब्रह्मवाद

शून्यवाद का सिद्धान्त केवल निषेधात्मक नहीं है। समस्त दृश्य जगत् को परस्पर सापेक्ष और निःस्वभाव शून्य बताने वाला शून्यवाद एक निरपेक्ष तत्व की ओर निर्देश करता है। महायान शून्यवाद के अनुसार

यह जगत् निःस्वभाव है, शून्य है। शून्य ही निरपेक्ष परम यथार्थ सत्य है। वह शून्य ही निर्वाण एवं बुद्ध के रूप में है।

शून्यवादी महायान के दर्शन में, बुद्ध, निर्वाण एव शून्य—ये सब उसी प्रकार पर्यायवाचक शब्द हैं, जिस प्रकार अद्वैतवाद वेदान्त के मत में, ब्रह्म, मोक्ष एवं ब्रह्मज्ञान आदि पर्यायवाचक शब्द हैं। वेदान्त का निरपेक्ष तत्व ब्रह्म एक स्थिर, नित्य द्रव्य के रूप में है। महायान अपने निरपेक्ष तत्व का उस प्रकार निरूपण नहीं करता। परन्तु निरपेक्ष तत्व को दोनों ही समानरूप से मानते हैं।

जिस प्रकार वेदान्त में, ब्रह्म का आनन्दमय स्वरूप है, उसी प्रकार महायान में निरपेक्ष बुद्ध तत्व का 'संभोगकाय' स्वीकार किया गया है।

सत्ता के प्रकार

वेदान्त दर्शन अद्वैत तत्व की स्थापना करने के लिए सत्ता का निरूपण पारमार्थिक और व्यावहारिक दो स्तरों पर करता है। शून्यवादी नागार्जुन ने भी सत्ता के दो प्रकार कहे हैं—संवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य। दृश्यमान जगत् की संवृत्ति सत्यता है, परन्तु परमार्थ सत्यता निरपेक्ष शून्य की है।

महायान निरपेक्ष तत्वरूप परम सत्य निर्वाण की स्थापना करता है, और वह निर्वाण तथा बुद्ध एक ही तत्व हैं। परम सत्य शून्य का साक्षात्कार तर्क से नहीं हो सकता, वह तो अलौकिक ज्ञान से ही हो सकता है। इसी ज्ञान को प्रज्ञापारमिता कहा गया है। यही है, वह शून्यवाद, जिसकी कल्पना नागार्जुन ने की थी।

योगाचार का विज्ञानवाद

माध्यमिक शून्यवाद के बाद में, बौद्ध विचारधारा में, योगाचार के विज्ञानवाद का स्थान माना गया है। शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन थे, और विज्ञानवाद के प्रवर्तक वसुबन्धु थे। शून्यवाद को माध्यमिक और योगाचार को विज्ञानवाद कहा जाता है। माध्यमिक ने बाह्य और आन्तर, दोनों प्रकार के धर्मों का निषेध किया था। योगाचार ने कहा, कि स्वसंवेदन का निषेध नहीं किया जा सकता। ज्ञान यथार्थ सत्य है, उसको स्वीकार करना ही होगा। इसके बिना संसार की वस्तुओं का व्यावहारिक अस्तित्व भी नहीं रहेगा।

धर्मकीर्ति ने कहा, कि जो ज्ञान का भी प्रत्यक्ष, या संवेदन स्वीकार नहीं करता, उसके लिए वस्तुओं का ज्ञान भी सम्भव नहीं। अतः ज्ञान का प्रत्यक्ष और ज्ञान की सत्ता को स्वीकार करना पड़ेगा। यह योगाचार के दर्शन का आधारभूत तर्क है।

बाह्य जगत का खण्डन

ज्ञान के संवेदन को एवं ज्ञान के अस्तित्व को आधारभूत मान कर योगाचार बाह्य वस्तुओं का खण्डन करता है। जब हम प्रत्यक्ष से नील को देखते हैं, तब नील और उसका प्रत्यक्ष—ये दो वस्तु अलग-अलग प्रतीत नहीं होती। अतः नील और उसका ज्ञान दोनों एक ही वस्तु हैं, भिन्न-भिन्न नहीं। अतः नील का ज्ञान ही यथार्थ वस्तु है, न कि नील वस्तु। इसलिए विज्ञान ही सत्य है, वस्तु की सत्ता ही नहीं है। विज्ञानवादी ने बाह्य पदार्थों के खण्डन में अनेक तर्क दिये हैं, जिनमें परमाणुवाद और द्रव्यवाद का खण्डन करके यह सिद्ध किया है, कि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व सम्भव ही नहीं होता है।

विज्ञान के भेद

विज्ञानवाद के अनुसार सत्य के तीन प्रकार हैं–एक परिनिष्पन्न लक्षण अर्थात् परमार्थ सत्य, दूसरा परतन्त्र लक्षण अर्थात् व्यावहारिक सत्य और तीसरा परिकल्पित लक्षण अर्थात् कल्पनात्मक सत्य। सत्य के तीन स्तर हैं।

परमार्थ सत्य क्या है? प्रत्येक क्षण अनुभव में आने वाले अनन्त विज्ञानों को प्रवृत्ति विज्ञान कहा गया है। इन प्रवृत्ति विज्ञानों से परे एक आलयविज्ञान है, जो निरपेक्ष तत्त्व है, जिसमें एक प्रकार से समस्त प्रवृत्ति विज्ञान समा जाते हैं। जिस प्रकार माध्यमिक शून्यवाद में निरपेक्ष का स्वरूप शून्य है, उसी प्रकार योगाचार का निरपेक्ष तत्त्व आलय-विज्ञान के रूप में है। आलय विज्ञान ही निर्वाण एँवं बोधि का स्वरूप है। यह आलय विज्ञान ही परिनिष्पन्न लक्षण सत्य है, अर्थात् परमार्थ सत्य है। इस आलय-विज्ञान का शुद्ध स्वरूप योग के द्वारा प्राप्त होता है, जिसके कारण ही इस सम्प्रदाय का नाम योगाचार कहा गया है। घट-पट आदि का ज्ञान, प्रवृत्ति विज्ञान और आत्मसंवेदन "मैं हूँ" यह आलयविज्ञान कहा गया है।

गोशालक का नियतिवाद

भारतीय दर्शनों में, नियतिवाद भी एक प्राचीन सिद्धान्त माना गया

है। नियतिवाद के अनुसार, समस्त भाव नियत हैं, उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। पुरुषार्थ को वहाँ अवकाश नहीं है। नियति में फेर-फार नहीं किया जा सकता। इस सिद्धान्त के अनुसार, सारा जगत् नियति-चक्र में है।

उपनिषदों में तथा रामायण-महाभारत में भी नियतिवाद के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। गोशालक से पूर्व भी यह सिद्धान्त था। इसका अधिक प्रचार गोशालक ने किया था। आजीवक पन्थ की स्थापना भी इसने की थी।

आज उस परम्परा का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। परन्तु जैन आगमों में तथा बौद्ध पिटकों में उस परम्परा के उल्लेख मिलते हैं। जैन परम्परा के अनुसार गोशालक भगवान महावीर का शिष्य था। बाद में वह विरोधी हो गया। वह अपने युग का एक घोर तपस्वी और कठोर क्रियाकाण्डी था। उसके अनुयायी उपासकों की संख्या, भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध के भी उपासकों से अधिक थी।

यह गोशालक भी वेद के यज्ञ-यागों का विरोध करता था। अतः वह भी वेदविरोधी श्रमण परम्परा का एक नेता समझा जाता था। बुद्ध ने भी उसके मत का उल्लेख किया है। वह अपने युग का एक विचारक अवश्य था।

ब्राह्मण-परम्परा के दर्शन-शास्त्र

इस परम्परा के छह दर्शन हैं। इनका मूल वेद को माना गया है। अतः इन छह दर्शनों को वैदिक दर्शन भी कहा गया है। वेद को प्रमाण मानने वाले वैदिक होते हैं।

षट्दर्शन किसी न किसी रूप में वेद को प्रमाण मानते हैं। अतः इनको वैदिक कहने में किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती। विकास क्रम की दृष्टि से उनका क्रम इस प्रकार कहा जा सकता है—

१	न्याय दर्शन	प्रवर्तक	महर्षि	गौतम
२	वैशेषिक दर्शन	,,	,,	कणाद
३	सांख्य दर्शन	,,	,,	कपिल
४	योग दर्शन	,,	,,	पतञ्जलि
५	मीमांसा दर्शन	,,	,,	जैमिनि
६	वेदान्त दर्शन	,,	,,	बादरायण

वेद से सम्बन्ध

यद्यपि वेदों से सीधा सम्बन्ध केवल मीमांसा और वेदान्त का है, क्योंकि वेद के दो भाग हैं—कर्म और ज्ञान। मीमांसा में कर्म का विचार किया गया है, वेदान्त में ज्ञान पर विचार किया गया है, एक तीसरा विभाग भी है—उपासना, इसमें से भक्ति मार्ग का विकास किया गया है, तथापि सांख्य और योग भी किसी रूप में वेद से संबद्ध रहे हैं, न्याय और वैशेषिक सिद्धान्त वेद से दूर होकर भी वेदों को ईश्वरवाणी के रूप में स्वीकार करते हैं।

न्याय और वैशेषिक दर्शन

न्याय और वैशेषिक दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। न्याय में प्रधानतया प्रमाण का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। वैशेषिक में मुख्यतया प्रमेय का वर्णन किया है। प्रमाण के बिना प्रमेय की सिद्धि नहीं होती। न्याय का अर्थ है कि विभिन्न प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना। न्याय भाष्य का कथन है—'प्रमाणैरर्थ-परीक्षणं न्यायः।' प्रमाणों का विस्तार से प्रतिपादन करने से न्याय-शास्त्र को प्रमाण-शास्त्र भी कहते हैं। न्याय, प्रमाण और तर्क तीनों पर्यायवाचक हैं। वाद विद्या भी इसको कहते हैं। क्योंकि इसमें हेतु, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थानों का भी वर्णन किया गया है। शास्त्रार्थ में इनका उपयोग एवं प्रयोग किया जाता था।

षोडश पदार्थ

नैयायिकों ने षोडश पदार्थ माने हैं, जो इस प्रकार हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान।

सप्त पदार्थ

वैशेषिक दर्शन में सप्त पदार्थ स्वीकार किए गए हैं, जो इस प्रकार हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। इस प्रकार दोनों दर्शनों में प्रमेय तत्वों का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है।

प्रमाण विचार

न्याय दर्शन में चार प्रमाण माने हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। परन्तु वैशेषिक दर्शन में दो प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष एवं अनुमान। न्याय और वैशेषिक दोनों ने ही संनिकर्ष को प्रमाण माना है। इन्द्रिय और

पदार्थ के सम्बन्ध को संनिकर्ष कहते हैं। संनिकर्ष के छह भेद हैं—संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय और अभाव।

ईश्वरवाद

न्यायदर्शन ईश्वरवादी हैं और वैशेषिक परमाणुवादी है। प्रारम्भ में यह ईश्वरवादी नहीं था, लेकिन कालांतर में इसने भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर लिया था। न्याय और वैशेषिक दोनों ही ईश्वर की सत्ता मानकर उसके द्वारा सृष्टि की रचना स्वीकार करते हैं। ईश्वर का सृष्टि-कर्तृत्व अनुमान और आगम प्रमाण से सिद्ध करते हैं। ईश्वर को नित्य, व्यापक और सर्वज्ञ मानते हैं। आचार्य उदयन ने न्याय-कुसुमाञ्जलि में ईश्वर को जगत का कर्ता, धर्ता और हर्ता सिद्ध किया है—प्रबल तर्कों के आधार पर।

कारणवाद

न्याय दर्शन में कार्य के तीन कारण माने हैं—समवायि, असमवायि और निमित्त। जैसे पटरूप कार्य के प्रति तन्तु समवायि कारण है, तन्तु संयोग पट का असमवायि कारण है, और तुरी वेम आदि निमित्त हैं। समवायि कारण को उपादान कारण भी कहा गया है। न्याय दर्शन का कार्य-कारण-भाव बहुत ही प्रसिद्ध है। इस पर पर्याप्त बल भी दिया गया है।

आत्मा के भेद

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में, आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया गया है। उसके दो भेद हैं—जीवात्मा और परमात्मा। परमात्मा एवं ईश्वर एक ही है। वह नित्य है, विभु है, अनन्त है, सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिमान् भी है।

इसके विपरीत जीवात्मा अनन्त हैं, विभु हैं, अल्पज्ञ हैं और प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा का लक्षण किया है—ज्ञानाधिकरणमात्मा, अर्थात् आत्मा ज्ञान गुण का आश्रय है। कुछ दर्शनकार आत्मा का अणु परिमाण अर्थात् वट-कणिका मात्र मानते हैं। जैन स्वदेह परिमाण मानते हैं।

धारावाहि ज्ञान

न्याय और वैशेषिक दोनों ने ही प्रमाण को अस्वसंवेदी माना है। उन

की मान्यता है, कि ज्ञान स्वयं अपना प्रत्यक्ष नहीं करता, परन्तु दूसरे ज्ञान के द्वारा उसका प्रत्यक्ष होता है। ये दोनों दर्शन गृहीतग्राही धारावाहि ज्ञान को भी प्रमाण मानते हैं। ज्ञान का प्रत्यक्ष अनुव्यवसाय ज्ञान से मानते हैं।

इस प्रकार न्याय और वैशेषिक दोनों समान तन्त्र माने जाते हैं। दोनों के सिद्धान्त परस्पर मिलते-जुलते हैं। अतएव इन दोनों को 'यौग' भी कहा जाता है।

सांख्य और योगदर्शन

सांख्य दर्शन और योग दर्शन दोनों ही सहयोगी दर्शन हैं। सांख्य दर्शन प्रमेय बहुल दर्शन है। मुख्यतया इसमें तत्व-मीमांसा की है। प्रमाण का विचार अत्यन्त अल्प किया है। सांख्य में तीन प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। योग भी ज्ञान प्रधान न होकर आचार प्रधान रहा है। योग की साधना करके समाधि पाना ही इसका एकमात्र लक्ष्य रहा है। अतः इसमें तत्वों पर भी विचार नहीं किया गया।

सांख्य सिद्धान्त

परम्परा से महर्षि कपिल सांख्य दर्शन के प्रथम उपदेष्टा माने जाते हैं। यह भारत का प्राचीनतम दर्शन है। क्योंकि इसके सिद्धान्त वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, योगवाशिष्ठ तथा श्रुति-स्मृतियों में सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। परन्तु इस सम्प्रदाय का एक प्रामाणिक और मूलभूत ग्रन्थ ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका है। यही ग्रन्थ सांख्य दर्शन का वर्तमान ज्ञान का आधार स्तम्भ माना जाता है।

इस जगत के मूल में दो तत्व हैं—एक प्रकृति और दूसरा पुरुष। प्रकृति अचेतन है, और पुरुष चेतन। सांख्य में पच्चीस तत्त्व माने जाते हैं। प्रकृति से बुद्धि, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से सत्त्व, रज और तम रूप गुण फिर पाँच ज्ञान इन्द्रिय, पाँच कर्म इन्द्रिय और मन। फिर पाँच तन्मात्रा और पाँच महाभूत। इस प्रकार यह सारा विकार एक प्रकृति का ही है।

प्रकृति का स्वरूप

प्रकृति अचेतन है, यह जड़ है। यह सक्रिय है, भोग्या है, सावयव है, परिणामी है और समस्त संसार की जनक है। पुरुष संसर्ग से इसमें ही कर्तृत्व और भोक्तृत्व पाया जाता है। प्रकृति में प्रतिक्षण परिणमन होता

है। पुरुष में परिणमन नहीं होता। अतः उसे अपरिणामी कहा गया है। तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण प्रकृति के धर्म हैं।

पुरुष का स्वरूप

पुरुष चैतन्य स्वरूप है। वह साक्षी है, निर्गुण है, उदासीन है, अकर्ता है, अभोक्ता है, नित्य है, स्वयंभू है, निष्क्रिय है। इसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व धर्म बुद्धि के कारण आरोपित होते हैं। संख्या में पुरुष अनन्त हैं।

तीन प्रकार के दुःख

संसारी पुरुष तीन प्रकार के दुःखों से पीड़ित हैं। वे दुःख इस प्रकार हैं—

१. अध्यात्म दुःख—यह दो प्रकार है। वात, पित्त एवं कफ आदि से जन्य, शरीर कृत दुःख। काम, क्रोध एवं लोभ आदि से जन्य, मानस दुःख।

२. आधिभौतिक दुःख—भौतिक पदार्थों से जन्य दुःख। जैसे सर्प का काटना, धन नष्ट होना।

३. आधिदैविक दुःख—जैसे भूकम्प का आना, भूत-प्रेत की बाधा, अतिवृष्टि आदि।

भेद-विज्ञान

इन दुःखों से निवृत्ति तभी सम्भव है, जब पुरुष और प्रकृति का भेद-ज्ञान हो। पुरुष अज्ञान के कारण प्रकृतिजन्य बुद्धि तथा शरीर आदि के सुख एवं दुःख आदि धर्मों को अपना समझता है। भेदज्ञान से विवेक और विवेक से कैवल्य की प्राप्ति होती है। यही जीवन्मुक्ति है। फिर प्रारब्ध कर्मों के क्षीण होते ही वह देह को छोड़कर, विदेह मुक्त हो जाता है।

योग दर्शन

योग दर्शन सांख्य का पूरक दर्शन है। महर्षि पतञ्जलि ने इसकी स्थापना की थी। योग का सम्बन्ध साधना से है, ज्ञान से नहीं। फिर भी योग दर्शन सांख्य का अनुकरण करके तीन प्रमाण मानता है—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। तत्त्व व्यवस्था भी सांख्य की स्वीकार कर लेता है। योग का साहित्य बहुत अल्प है। पतञ्जलि कृत योग-सूत्र। व्यास भाष्य, भोजवृत्ति, तत्त्व वैशारदी और विज्ञानभिक्षुकृत योग-वार्तिक तथा योगसार आदि ग्रन्थ हैं।

योग के अष्ट अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। समाधि के दो भेद हैं—सबीज समाधि और निर्बीज समाधि। योग साधना से समाधि प्राप्त करना ही योगी का एकमात्र लक्ष्य होता है। योगी परम शान्त और परम प्रसन्न होता है। वह मनोविजेता होता है।

मीमांसा-दर्शन

मीमांसा दर्शन का सीधा सम्बन्ध वेद से है। वेद को परम सत्य माना गया है। वेद से बढ़कर अन्य कोई शास्त्र नहीं हो सकता। वेद में सब कुछ है, उससे बाहर कुछ भी नहीं हो सकता। मीमांसा शब्द का अर्थ है—किसी वस्तु के स्वरूप का यथार्थ विवेचन। मीमांसा का अर्थ ही है—विवेचना। पूजित विचार को और पूजित वचन को मीमांसा कहा जाता है। वेद के विचार और वचन दोनों ही पूजित होते हैं।

मीमांसा के भेद

मीमांसा के दो भेद हैं—कर्म-मीमांसा और ज्ञान-मीमांसा। यज्ञों की विधि तथा अनुष्ठान का वर्णन, कर्म मीमांसा का विषय है। जीव, जगत् और परमात्मा के स्वरूप का तथा सम्बन्ध का प्रतिपादन, ज्ञानमीमांसा का विषय है। कर्म मीमांसा को पूर्वमीमांसा तथा ज्ञान मीमांसा को उत्तरमीमांसा कहा जाता है। उत्तरमीमांसा को आजकल वेदान्त कहा जाता है और पहली को केवल मीमांसा कहा जाता है।

महर्षि जैमिनि

मीमांसा दर्शन के सूत्रकार हैं-जैमिनि। भाष्यकार हैं-शबर स्वामी। मीमांसा दर्शन के इतिहास में, कुमारिल भट्ट का युग, सुवर्ण युग के नाम से कहा जाता है। भट्ट के अनुयायी भाट्ट कहे जाते हैं। इस दर्शन के अन्य आचार्यों में प्रभाकर मिश्र भी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। प्रभाकर के अनुयायी प्राभाकर कहे जाते हैं। भाट्ट और प्राभाकर, दोनों सम्प्रदाय अलग-अलग हैं। दोनों में काफी विचारभेद, मतभेद और साथ ही बहुत गहन व्याख्या-भेद भी रहता है।

पदार्थ संख्या

मीमांसा-दर्शन मान्य पदार्थ आठ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, संख्या और सादृश्य। भाट्टों के अनुसार पदार्थ पाँच हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव। वैशेषिक दर्शन में नव द्रव्य हैं।

लेकिन भाट्ट अन्धकार एवं शब्द को भी द्रव्य मानते हैं। द्रव्य एवं तत्वों की संख्या के विषय में दोनों में मतभेद रहे हैं।

प्रमाण संख्या

प्राभाकर सम्प्रदाय में पाँच प्रमाण माने जाते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम और अर्थापत्ति। भाट्ट सम्प्रदाय के अनुयायी छह प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव। मीमांसा-दर्शन में ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता। ज्ञान न तो स्वयं वेद्य है, और न ज्ञानान्तर से वेद्य है। अतः ज्ञान परोक्ष है। ज्ञान में प्रमाणता और अप्रमाणता कैसे होती है? इस विषय में विभिन्न दर्शनों में परस्पर बहुत विवाद रहा है।

न्याय वैशेषिक दोनों को परतः, सांख्य-योग दोनों को स्वतः और मीमांसक लोग प्रामाण्य को स्वतः तथा अप्रामाण्य को परतः मानते हैं।

सर्वज्ञ का निषेध

भारतीय दर्शनों में मीमांसा दर्शन सर्वज्ञ पुरुष और सर्वज्ञता का एकान्त निषेध करता है। उसका कथन है कि कोई सर्वज्ञ पुरुष अथवा अतीन्द्रियदर्शी नहीं हो सकता। क्योंकि किसी भी पुरुष में ज्ञान और वीत-रागता का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है।

न्याय-वैशेषिक सर्वज्ञ पुरुष और उसकी सर्वज्ञता तथा वीतरागता को स्वीकार करते हैं। सांख्य-योग भी स्वीकार करते हैं। बौद्ध भी तथागत को सर्वज्ञ मानते हैं। ये दर्शन तो वीतरागता, सर्वज्ञता और सर्वदर्शित्व को स्वीकार करते हैं। वह अपने पैने तर्कों से सर्वज्ञ सिद्धि करते हैं। उनका कथन है कि प्रबल एवं निर्दोष अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। कोई पुरुष सकल पदार्थों का ज्ञाता है, क्योंकि उसका स्वभाव उनको जानने का है, तथा उसमें प्रतिबन्ध के कारण नष्ट हो गये हैं। अतः वह सर्वज्ञ है।

अपौरुषेयवाद

मीमांसा दर्शन वेद को अपौरुषेय मानता है। क्योंकि वेद मुख्य रूप से अतीन्द्रिय धर्म का प्रतिपादक है। अतः धर्म में वेद ही प्रमाण है। इस प्रकार वेद को स्वतः प्रमाण माना गया है। वेद को अपौरुषेय मानने के कारण मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं। मीमांसा दर्शन ने कर्म मीमांसा पर अत्यधिक बल दिया है। यज्ञ एवं याग को यह परम धर्म मानता है।

वेदान्त-दर्शन

उत्तरमीमांसा को वेदान्त कहा गया है। वेदों का अन्त वेदान्त होता है। उसका मुख्य ग्रन्थ बादरायणकृत ब्रह्म-सूत्र है। इसमें वेद के सार उपनिषदों के ज्ञान की मीमांसा अर्थात् विचारणा की है। वेदान्त उपनिषदों के तत्त्व ज्ञान पर निर्भर करता है। उनका आधार और यथार्थ तत्त्व ब्रह्म है, जो अखण्ड, एक रस और अद्वैत है। उपनिषदों के वाक्यों की अर्थ-संगति अर्थात् समन्वय करने के लिए ब्रह्म-सूत्र की रचना की है। ब्रह्मसूत्र, वेदान्त-सूत्र और बादरायण-सूत्र—ये तीनों एक ही हैं। उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र की वेदान्त संज्ञा है।

वेदान्त के सम्प्रदाय

पूर्वमीमांसा के दो सम्प्रदाय हैं–भाट्ट और प्राभाकर। वेदान्त के पाँच सम्प्रदाय हैं—अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत और शुद्धाद्वैत। क्रमशः इनके प्रवर्तक आचार्य हैं—शंकर, रामानुज, निम्बार्क, माध्व और वल्लभ। शंकर शैव सम्प्रदाय के हैं, और शेष चार वैष्णव सम्प्रदाय के हैं। वैष्णव आचार्य भक्तिमार्गी हैं। भक्त भक्ति से भगवान् का सामीप्य एवं सान्निध्य प्राप्त करता है। भक्तिमार्ग, एक सीधा और सरल मार्ग है।

वेदान्त का साहित्य

वेदान्त का साहित्य विशाल एवं व्यापक है। प्रस्थानत्रयी मुख्य साहित्य है। फिर विभिन्न भाष्य हैं, जैसे शारीरक भाष्य एवं श्रीभाष्य आदि। शांकर भाष्य पर भामती,उस पर कल्पतरु, फिर कल्पतरु पर परिमल। अद्वैतसिद्धि, पञ्चदशी, वेदान्त परिभाषा और वेदान्त-सार आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

शंकर का अद्वैतवाद

सामान्यजन वेदान्त से शंकर का अद्वैतवाद ही समझते हैं। शंकर का कथन है, कि परिवर्तनशील संसार का यथार्थ तत्त्व ब्रह्म है। जगत् असत्य और भ्रम मात्र है। मायावाद भी शंकर का ही एक अति प्रसिद्ध सिद्धान्त है। ब्रह्मवाद और मायावाद दोनों परस्पर सम्बद्ध माने जाते हैं। वेदान्त का एक मुख्य सिद्धान्त—ब्रह्म सत्य, जगत् असत्य है, नानात्व, भ्रम मात्र है, सर्वत्र एकत्व है।

भारतीय दर्शनों में कारणवाद को लेकर दीर्घकाल से विवाद रहा है। सांख्य सत्कार्यवाद को मानता है। कार्य उत्पन्न नहीं होता, अव्यक्त से

व्यक्त होता है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में आने को परिणाम अथवा विकार कहा गया है।

न्याय-वैशेषिक असत्कार्यवाद को मानता है, इसको आरम्भवाद भी कहा गया है। पट तो तन्तुओं से सर्वथा भिन्न एक नयी वस्तु है। वेदान्त का विवर्तवाद प्रसिद्ध है। विकार का अर्थ यह है, कि कारण वस्तुतः कार्य रूप में बदल जाता है। तन्तु पट के रूप में बदल जाता है। दूध दही के रूप में परिवर्तित हो जाता है। विवर्तवाद का अर्थ है, कि कारण वस्तुतः अपने ही स्वरूप में रहे, केवल बदल जाने का भ्रम बना रहे। जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है। वस्तुतः सर्प है ही नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म जगत् के रूप में नहीं बदलता, बदलने का भ्रम हो जाता है। वेदान्त के इसी सिद्धान्त को मायावाद कहा गया है।

रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद

रामानुज के अनुसार, चेतन जीव और जड़ जगत्, ब्रह्म से ही उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म उनका निमित्त और उपादान दोनों ही कारण है। ब्रह्म के बिना उनका अस्तित्व नहीं। अतः एकमात्र अद्वैत तत्त्व ब्रह्म को कहा जा सकता है। परन्तु चेतन जीव और जड़ जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होने पर भी असत् नहीं हैं। उपनिषदों में कहीं पर अद्वैत और कहीं पर द्वैत का प्रतिपादन किया गया है। विशिष्टाद्वैत दोनों पक्षों का सुन्दर समन्वय कर देता है। एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि शंकर के अद्वैतवाद में, ज्ञान पर विशेष बल दिया गया है, परन्तु रामानुज के विशिष्टाद्वैत में, वैष्णव वेदान्त सम्प्रदायों में, ज्ञान को गौण करके भक्ति पर विशेष बल दिया है। रामानुज सम्प्रदाय के मुख्य ग्रन्थ हैं—श्रीभाष्य, वेदान्तसार संग्रह, वेदार्थ-संग्रह एवं वेदान्त-दीप।

निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद

निम्बार्क के अनुसार तीन तत्त्व हैं—चित् अर्थात्—जीव, अचित् अर्थात् जड़ जगत् और ईश्वर। ये तीनों क्रमशः भोक्ता, भोग्य और नियन्ता हैं। जीव ज्ञान स्वरूप है, अतः वह प्रज्ञानघन कहा गया है। जीव के ज्ञान स्वरूप होने का अर्थ यह है, कि जीव ज्ञान भी है, और ज्ञानवाला भी। जैसे सूर्य प्रकाश भी है, और प्रकाश वाला भी। जीव, जड़ और ईश्वर में तादात्म्य या अभेद सम्बन्ध है। इस प्रकार भेद और अभेद अर्थात् द्वैत और अद्वैत दोनों ही ठीक हैं। इनकी सम्प्रदाय का प्रसिद्ध ग्रन्थ—वेदान्त-

पारिजात-सौरभ माना जाता है। परन्तु यह ब्रह्मसूत्रों पर निम्बार्क का भाष्य है।

माध्व का द्वैतवाद

माध्व सम्प्रदाय पूर्ण रूप से द्वैतवाद को मानता है। अद्वैत का जोरदार खण्डन भी करता है। उसके अनुसार ब्रह्म, जीव और जड़—ये तीनों ही स्वतन्त्र एवं नित्य हैं। माध्व मत को वस्तुतः द्वैतवाद नहीं, त्रैतवाद कहना चाहिए। क्योंकि वह तीन स्वतन्त्र पदार्थ मानता है। अद्वैत का सर्वत्र खण्डन किया है।

वल्लभ का शुद्धाद्वैतवाद

वल्लभ के अनुसार जीव, जड़ और ब्रह्म इन तीनों में से पहले दोनों अर्थात् जीव और जड़, ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं। वे दोनों ब्रह्मरूप ही हैं। जीव और जड़ की ब्रह्म के साथ एकता स्वतः अर्थात् स्वरूपता है, अर्थात् वह शुद्ध एकता, शुद्ध अद्वैत है। उसमें माया का सम्बन्ध नहीं होता है। वल्लभ के अनुसार माया का अस्तित्व ही नहीं। जीव और जड़—दोनों स्वतः ब्रह्मस्वरूप हैं। अतः इस मत का नाम शुद्धाद्वैत पड़ गया है। वल्लभ ने भी अपनी मान्यता के अनुसार ब्रह्म सूत्रों पर भाष्य रचा है।

पाश्चात्य दर्शन

भारत के प्रत्येक दर्शन-शास्त्र में जिस प्रकार स्वाभिमत प्रमेय और प्रमाण पर विचार गहनता एवं गम्भीरता से किया है, उसी प्रकार यूरोप के दार्शनिक विद्वानों ने भी तत्व-मीमांसा अथवा सत्ता-मीमांसा और ज्ञान-मीमांसा अथवा प्रमाण-मीमांसा पर विचार किया है। देश, काल और स्थिति भिन्न होने पर भी पूर्व और पश्चिम की विचारधारा में, काफी समानता भी दृष्टिगोचर होती है। लेकिन अन्तर भी अवश्य है। वहाँ के विद्वानों ने अपनी पद्धति के अनुसार और अपनी अवधारणा के अनुकूल तत्व पर और ज्ञान पर विचार किया है, उसका संक्षेप-सार यहाँ अंकित है।

विभिन्न मत

जगत् किस तत्व से बना है? वह तत्व जिससे जगत बना है, कैसा है? सत्ता का स्वरूप क्या है? इस सम्बन्ध में तीन मत हैं—अध्यात्मवादी मत, भौतिकवादी मत और निष्पक्षवादी मत।

(अ) प्रथम मत के अनुसार, सत्ता मनस् है, संसार का मूल इसी तत्त्व में है। विश्व इसी मनस् का प्रकटीकरण है। जगत् प्रक्रिया एक बौद्धिक प्रक्रिया है, और विवेक है। संसार के पीछे एक प्रयोजन निहित है, बिना किसी प्रयोजन के व्यवस्था नहीं बन सकती। इस प्रकार जगत् मानसिक है। अरस्तू, प्लेटो, लाइबनित्ज, बर्कले, कांट, हेगल और शॉपेन-हावर—ये सब अध्यात्मवाद के प्रतिपादक रहे हैं। इनका मत है, विश्व मनस् से बना है।

(ब) द्वितीय मत के अनुसार, संसार की रचना पुद्गल से बनी है। पुद्गल गतिशील है, उसी से विकास के विभिन्न स्तरों पर जीवन और मनस् का विकास होता है। जीवन और मनस् की उत्पत्ति पुद्गल से ही होती है।

(स) तृतीय मत के अनुसार अन्तिम तत्व न तो मनस् है, और न ही पुद्गल। यह स्पिनोजा का अभिमत है। उसके अनुसार वह परम तत्व है, एक मात्र ब्रह्म अर्थात् परमात्मा। वही सृष्टि का एक मात्र मूलकारण कहा जा सकता है।

ज्ञान-मीमांसा

अनुभववाद के अनुसार, समस्त ज्ञान का जनक अनुभव ही है। ज्ञान जन्मजात नहीं होता, अनुभव द्वारा अर्जित किया जाता है। अनुभव एवं संवेदना के बिना कोई ज्ञान सम्भव नहीं होता। अनुभववाद के व्याख्याता तीन हैं—जॉन लॉक, बर्कले और ह्यूम। परन्तु तीनों के मत में अन्तर भी है।

जॉन लॉक का मत

अनुभववाद के जन्मदाता, जॉन लॉक से पूर्व बेकन ने इन्द्रिय ज्ञान को ही वास्तविक ज्ञान का साधन कहा था। जॉन लॉक ने जन्मजात प्रत्ययों का जोरदार खण्डन किया। उसके अनुसार मन एक स्वच्छ स्लेट या कोरा कागज है, उस पर कुछ भी पूर्व का लिखा नहीं होता। ज्ञान अर्जित किया जाता है। ज्ञान की उत्पत्ति और उसके विकास के विषय में लॉक का मत है, कि ज्ञान हमारे अन्धकारयुक्त मन में दो प्रकार से पहुँचता है—संवेदना और चिन्तन द्वारा। संवेदना ज्ञान—इन्द्रियों द्वारा प्राप्त बाह्य ज्ञान है, चिन्तन का अर्थ है—अन्तर ज्ञान।

बर्कले का मत

जिस प्रकार बर्कले ने लॉक के बाह्य पदार्थों को अस्वीकार किया था,

उसी प्रकार ह्यूम भी बर्कले द्वारा प्रतिपादित मनस् एवं आत्मा के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करता। ह्यम के अनुसार मनस् लगातार प्रत्यय और संवेदना के योग का फल है। उसके अनुसार ज्ञान संशयपूर्ण होता है।

लॉक के अनुसार ज्ञान प्रत्ययों तक ही सीमित रहता है। हम उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते। इसके साथ ही लॉक बाहरी पदार्थों के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। बर्कले ने उसके इस विचार का विरोध किया। उसने कहा कि लॉक के अनुसार प्रत्यय और वस्तु दो हैं—और हम प्रत्यय के अतिरिक्त कुछ नहीं जानते। इस प्रकार लॉक के विचारों की आलोचना करते हुए बर्कले ने जड़ पदार्थों एवं वस्तुओं के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया। बर्कले के अनुसार कोई बाह्य पदार्थ नहीं है। भारत में इस प्रकार के विचार शून्यवाद, विज्ञानवाद और अद्वैतवाद में उपलब्ध होते हैं। पाश्चात्य दर्शन में तत्व-मीमांसा तथा ज्ञान-मीमांसा पर विचार किया गया है।

३

जैन दर्शन में प्रमाण व्यवस्था

आगमों में व्यवस्था, अनेक रूपों में प्राप्त होती है, जिसका उल्लेख स्थानांगसूत्र, अनुयोगद्वारसूत्र और नन्दीसूत्र में है। यह व्यवस्था पाँच ज्ञानों को आधार मानकर की है। राजप्रश्नीय में कुमारकेशी राजा प्रदेशी को यह कहते हैं, कि हम श्रमण पाँच ज्ञान मानते हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल। स्थानांग में पाँच ज्ञानों को दो प्रमाणों में विभक्त किया है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष में मति और श्रुत का समावेश किया है, और प्रत्यक्ष में अवधि, मनःपर्याय और केवल का। अनुयोगद्वार में इसी प्रकार का कथन है, लेकिन विभाजन की शैली कुछ भिन्न है। नन्दीसूत्र में विभाजन की शैली अधिक स्पष्ट हो चुकी है। वह दर्शनयुग के अधिक निकट है। वाचक उमास्वाति-कृत तत्त्वार्थाधिगमसूत्र में अथवा तत्त्वार्थसूत्र में पाँच ज्ञानों का विभाजन दार्शनिक शैली में किया गया है, जो तर्क युग के समीप पहुँच चुका है। अथवा कहना चाहिए, प्रमाण युग की पूर्व भूमिका है।

तर्क युग में ज्ञान और प्रमाण

वाचक उमास्वाति ने ज्ञान और प्रमाण में किसी प्रकार का भेद नहीं देखा। पहले पाँच ज्ञानों का नाम बताकर, कह दिया, कि पाँचों ज्ञान प्रमाण हैं। प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। यहाँ प्रमाण का स्वतन्त्र लक्षण नहीं दिया गया। प्रमाण के प्रमाणत्व एवं अप्रमाणत्व की भी चर्चा नहीं की। सीधा ज्ञान और प्रमाण में अभेद सिद्ध कर दिया गया। यह ज्ञान और प्रमाण का सन्धि काल है। ज्ञान, प्रमाण में प्रवेश कर चुका है। तर्क युग का प्रारम्भ हो गया है।

जैन दर्शन में प्रमाण का लक्षण

आगम से लेकर तत्वार्थ सूत्र तक प्रमाण के भेद-प्रभेद हो चुके थे।

परन्तु प्रमाण का लक्षण एवं स्वरूप का निर्धारण नहीं हो सका। इस कार्य को सम्पन्न किया—परीक्षामुख में माणिक्यनन्दी ने, प्रमाणनयतत्वालोक में वादिदेव सूरि ने और प्रमाण-मीमांसा में आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने। माणिक्यनन्दी ने कहा—वही ज्ञान प्रमाण है, जो स्व का और अपूर्व अर्थ का निर्णय करता हो। अपूर्व विशेषण से आचार्य धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण नहीं मानते। परन्तु यह ध्यान में रहे, कि श्वेताम्बर आचार्य धारावाहि ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। वादिदेव सूरि ने कहा—स्व और पर का निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण है। यहाँ अपूर्व विशेषण हटा दिया गया। आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने कहा—अर्थ का सम्यग् निर्णय प्रमाण है। यहाँ स्व और पर हटा गिये गये हैं। सम्यक् अर्थ निर्णय को ही रखा है। ज्ञान और प्रमाण में अभेद है। ज्ञान का अर्थ है, सम्यग्ज्ञान न कि मिथ्याज्ञान। दीपक जब उत्पन्न होता है, तब पर आदि पदार्थ को प्रकाशित करने के साथ ही अपने आपको भी प्रकाशित करता है।

प्रमाण के भेद

जैन दर्शन में प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष सीधा आत्मा से उत्पन्न होने वाला है, और परोक्ष इन्द्रिय तथा मन आदि करणों की सहायता से उत्पन्न होता है। बौद्धों ने भी प्रमाण के दो भेद किये हैं। आचार्य धर्मकीर्ति ने अपने ग्रन्थ न्याय-बिन्दु में कहा—प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के ये दो भेद हैं। लेकिन जैन दर्शन के अनुसार अनुमान परोक्ष का ही एक भेद है। अतः बौद्ध दर्शन का प्रमाण-विभाजन अपूर्ण ही है। वैशेषिक और सांख्य के तीन प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। नैयायिक के चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम एवं शब्द। प्रभाकर के पाँच हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम और अर्थापत्ति। भाट्ट सम्प्रदाय के छह हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि अर्थात् अभाव। चार्वाक केवल एक ही प्रमाण स्वीकार करता है—प्रत्यक्ष। जैन दर्शन-मान्य दोनों प्रमाणों में, ये सब प्रमाण समा जाते हैं, सबका अन्तर्भाव दो में ही हो जाता है। अतएव प्रमाण दो ही हैं—न कम और न अधिक।

प्रत्यक्ष के भेद

प्रत्यक्ष अपने आप में पूर्ण है। उसे किसी अन्य आधार के सहयोग की आवश्यकता नहीं। प्रमाण-मीमांसा, प्रमाणनयतत्वालोकालंकार और परीक्षामुख में विशद तथा स्पष्ट ज्ञान का प्रत्यक्ष कहा गया है। उसके दो

भेद हैं - सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। पारमार्थिक के दो भेद हैं—सकल और विकल। सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान है, और विकल प्रत्यक्ष—अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। मतिज्ञान के समस्त भेद-प्रभेद इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। इन्द्रियजन्य और मनोजन्य ज्ञान भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के ही भेद माने जाते हैं। जैन दर्शन में ये सब प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद हैं।

परोक्ष के भेद

जो ज्ञान अविशद और अस्पष्ट है, वह परोक्ष है। परोक्ष, प्रत्यक्ष से ठीक विपरीत है, जिसमें विशदता एवं स्पष्टता का अभाव है, वह परोक्ष प्रमाण है। उसके पाँच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। अतीत का ज्ञान, स्मृति है, अतीत और वर्तमान का ज्ञान, प्रत्यभिज्ञान है, व्याप्ति ज्ञान में सहयोगी ज्ञान, तर्क है, हेतु से साध्य का ज्ञान, अनुमान है। आप्त वचन से होने वाला ज्ञान है, आगम। संक्षेप में, ये सब परोक्ष प्रमाण के भेद हैं।

प्रमाण का प्रामाणत्व

न्याय में इस विषय पर काफी तर्क-वितर्क होता रहा। प्रामाण्य का निश्चय स्वतः होता है, कि परतः ? मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी है। नैयायिक परतः प्रामाण्यवादी है। सांख्य का कहना है, कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः होते हैं। जैन दर्शन इन तीनों से भिन्न सिद्धान्त की स्थापना करता है। प्रामाण्य निश्चय के लिए स्वतः प्रामाण्य और परतः प्रामाण्य दोनों की आवश्यकता है। अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः। यह विषय का संक्षेप है।

प्रमाण का फल

अर्थ का ठीक-ठीक स्वरूप समझने के लिए प्रमाण का ज्ञान आवश्यक है। प्रमाण का साक्षात्फल अज्ञान का नाश है। केवलज्ञान के लिए उसका फल सुख और उपेक्षा है, शेष ज्ञानों के लिए ग्रहण और त्याग बुद्धि है। यह कथन आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का है। सामान्य दृष्टि से प्रमाण का फल यही है, कि अज्ञान नहीं रहने पाता। जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार नहीं रहता।

जैनदर्शन में नयवाद

जैन-परम्परा में पाँच ज्ञान की मान्यता अत्यन्त प्राचीन काल से

चली आ रही है। श्रुत का अर्थ है, जो सुना गया हो। परम्परा से जिसे सुनते आए हैं, वह श्रुत होता है। इसे शास्त्र-ज्ञान और आगम भी कहते हैं। श्रुत के दो उपयोग होते हैं—सकलादेश और विकलादेश। सकलादेश को प्रमाण या स्याद्वाद कहते हैं। विकलादेश को नय कहते हैं। धर्मान्तर की अविवक्षा से किसी एक धर्म का कथन, विकलादेश कहा जाता है। स्याद्वाद या सकलादेश द्वारा सम्पूर्ण वस्तु का कथन होता है। विकलादेश अर्थात् नय द्वारा वस्तु के किसी एक देश का कथन होता है।

वस्तु अनेकधर्मात्मक है—अनेकांतात्मक है। वस्तु का ज्ञान नय एवं प्रमाण से होता है। अनेकान्तात्मक वस्तु के कथन की दो प्रकार की मर्यादा के कारण स्याद्वाद और नय का भिन्न-भिन्न निरूपण किया गया है। अनेकांतवाद और नय, स्याद्वाद और सप्तभंगी, जैनदर्शन के विशिष्ट तथा गम्भीर सिद्धान्त हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने स्वरचित सन्मति-तर्क में अनेकान्त और नयों का विस्तार से वर्णन किया है। आचार्य समन्तभद्र ने स्वरचित आप्तमीमांसा में स्याद्वाद और सप्तभंगी का सुन्दर वर्णन किया है। नय भी सप्त हैं और भंग भी सप्त हैं।

नयों के भेद

मूल में नयों के दो भेद हैं—द्रव्यनय और पर्यायनय—द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक। द्रव्यदृष्टि अभेदमूलक है और पर्यायदृष्टि भेदमूलक है। आचार्य सिद्धसेन के कथनानुसार भगवान् महावीर के प्रवचन में मूलतः दो ही दृष्टि हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। जगत् का व्यवहार भी दो प्रकार का है—भेदगामी अथवा अभेदगामी। भेद का अर्थ है विशेष। अभेद का अर्थ है—सामान्य। जैनदर्शन में वस्तु सामान्य-विशेषात्मक मानी है।

व्यवहार और निश्चय

आगमों में निश्चय और व्यवहार से कथन करने की प्राचीन परम्परा है। कथन कहीं पर निश्चय से होता है, तो कहीं पर व्यवहार से। व्यवहार आरोप अथवा उपचार होता है। व्यवहार से कोयल कृष्ण वर्ण की है, लेकिन निश्चय से उस में पंचवर्ण हैं। घृत घट यह कथन भी व्यवहार का है, निश्चय में घट घृत का नहीं होता। जो वस्तु जैसी प्रतिभासित होती है, उसी रूप में वह सत्य है, या किसी अन्य रूप में? वेदान्त में दो दृष्टि हैं—प्रतिभास और परमार्थ। परमार्थ से ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है। परन्तु प्रतिभास से जगत भी सत्य प्रतीत होता है। प्रतिभास व्यवहार है और जो परमार्थ है, वस्तुतः वही निश्चय कहा जाता है।

इन्द्रियगम्य वस्तु का स्थूल रूप व्यवहार की दृष्टि से यथार्थ है। इस स्थूल रूप के अतिरिक्त वस्तु का सूक्ष्म रूप भी होता है, जो इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता। वह केवल श्रुत या आत्म-प्रत्यक्ष का विषय होता है। वस्तुतः यही निश्चय दृष्टि अथवा निश्चयनय कहा जाता है। निश्चय और व्यवहार में यही अन्तर है, कि व्यवहार वस्तु के स्थूल रूप को ग्रहण करता है और निश्चय सूक्ष्म रूप को। आचार्य कुन्दकुन्द ने द्रव्य और तत्व का जो वर्णन किया है, वह निश्चयप्रधान वर्णन है। आचार्य व्यवहारनय को भी स्वीकार करते हैं। लेकिन गौण रूप में। समयसार तो एकदम निश्चय का कथन करता है। यही कारण है कि कुन्दकुन्द दर्शन,सांख्य तथा वेदान्त के निकट पहुँच गया है।

अर्थनय और शब्दनय

आगमों में स्पष्ट रूप में सप्त नयों का वर्णन मिलता है। भगवती सूत्र, स्थानांग सूत्र और अनुयोगद्वार सूत्र-आदि में नयों की संख्या और स्वरूप में काफी मतभेद रहे हैं। आगमगत नय, दर्शनगत नय और तर्कगत नयों में बहुत भिन्नता रही है। अनुयोगद्वारसूत्र में शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत को शब्दनय कहा गया है। बाद में नयों को दो भागों में विभक्त किया गया—अर्थनय और शब्दनय। जो नय अर्थ को अपना विषय बनाते हैं, वे अर्थनय हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र—अर्थ को विषय करते हैं। अतः ये चार अर्थनय हैं। शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत—ये तीन शब्द को विषय करते है। अतः ये तीन शब्दनय हैं।

नयों के सात भेद

जैन-दर्शन में नय के सात भेद प्रसिद्ध हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। आगम और दिगम्बर ग्रन्थ इस परम्परा का समर्थन करते हैं। दूसरी परम्परा नयों के छह भेद मानती है। इस परम्परा के अनुसार नैगम नय स्वतन्त्र नय नहीं है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने स्वरचित सन्मति-तर्क ग्रन्थ में इस मान्यता की जोरदार स्थापना की है। उनकी यह अपनी ही परिकल्पना है। अन्यत्र कहीं पर भी इस मान्यता का उल्लेख नहीं है। न आगमों में और न श्वेताम्बर-दिगम्बर साहित्य में। तीसरी परम्परा तत्त्वार्थ सूत्र और उसके भाष्य की है। इस परम्परा के अनुसार मूलरूप में नयों के पाँच भेद हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द। इनमें से प्रथम नैगमनय के दो भेद हैं—देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी। अन्तिम शब्दनय के तीन भेद हैं—साम्प्रत, सम-

भिरूढ़ और एवभूत। नयों की संख्या और स्वरूप के सम्बन्ध में काफी मतभेद रहे हैं। लेकिन नयों की सप्त संख्या के विषय में किसी प्रकार के मतभेद नहीं रहे हैं। जैनदर्शन में सप्तनय और सप्तभंग प्रसिद्ध हैं।

नयों का परस्पर सम्बन्ध

उत्तर नय का विषय, पूर्व नय की अपेक्षा कम होता जाता है। नैगम नय का विषय सबसे अधिक है, क्योंकि वह सामान्य और विशेष अथवा भेद और अभेद, दोनों को ग्रहण करता है। संग्रह नय का विषय नैगम नय से कम हो जाता है, क्योंकि वह केवल सामान्य को अथवा अभेद को ही ग्रहण करता है। व्यवहार का विषय संग्रह से कम है, क्योंकि वह पृथक्करण करता है। ऋजुसूत्र का व्यवहार से कम है, क्योंकि ऋजुसूत्र नय केवल वर्तमान पदार्थ तक ही सीमित रहता है। भूतकाल और अनागत काल उसका विषय नहीं होता है ? शब्द का विषय ऋजुसूत्र से भी कम है, क्योंकि वह काल, कारक, लिंग और संख्या आदि के भेद से अर्थभेद मानता है। समभिरूढ़ का विषय शब्द से कम है, क्योंकि वह व्युत्पत्तिभेद से अर्थ-भेद मानता है। एवंभूत का विषय समभिरूढ़ से कम है, क्योंकि वह अर्थ को भी तभी उस शब्द द्वारा वाच्य मानता है, जब अर्थ अपनी व्युत्पत्ति-मूलक क्रिया में पूर्णतया संलग्न रहता है। अतः यह स्पष्ट है कि पूर्व-पूर्व नय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर नय का विषय सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम होता जाता है। इसी आधार पर नयों में पूर्वोत्तर सम्बन्ध है। यही पार-स्परिक सम्बन्ध है।

सामान्य और विशेष

जैन दर्शन में, सामान्य और विशेष के आधार पर, नयों का द्रव्या-र्थिक और पर्यायार्थिक में विभाजन किया गया है। पहले के तीन नय सामान्यग्राही हैं। बाद के चार नय विशेषग्राही हैं। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है। उसमें अभेद के कारण सामान्य भी है, और भेद के कारण विशेष भी है। वस्तुगत ये दोनों धर्म, उसके अविभाज्य अंश अथवा अंग हैं। अतः वस्तु का एकान्त रूप में कथन नहीं किया जा सकता। क्योंकि अनेक धर्मों का समूह है—वस्तु। नय वस्तु के एक-एक धर्म को ग्रहण करता है, और प्रमाण वस्तु को समग्र रूप में ग्रहण करता है। नय और प्रमाण में यही अन्तर है।

अभेद और भेद

जैन दर्शन प्रत्येक वस्तु में अभेद और भेद को स्वीकार करता है।

वस्तु न एकान्त भिन्न और न एकान्त अभिन्न ही है। द्रव्य दृष्टि से अभेद और पर्यायदृष्टि से भेद भी है। वस्तु नित्य भी है, वस्तु अनित्य भी है। वस्तु एक भी है, वस्तु अनेक भी है। वस्तु सत् भी है, वस्तु असत् भी है। भगवान् महावीर की यही तो अनेकान्त दृष्टि है। इसी की व्याख्या है—नयवाद। इसी की व्याख्या है—स्याद्वाद।

स्याद्वाद और सप्तभंगी

जैन आगमों में स्याद्वाद और विभज्यवाद शब्दों का अनेक स्थानों पर प्रयोग किया गया है। दोनों ही शब्द जैन-दर्शन में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। जैन दर्शन के मर्म को समझने के लिए अत्यन्त ही महत्व-पूर्ण शब्द हैं। विभज्यवाद का प्रयोग तो बौद्ध पिटक मज्झिम निकाय में भी हुआ है। भगवान् बुद्ध ने अपने आपको विभज्यवादी कहा है, एकांश-वादी नहीं। जैन परम्परा के सूत्रकृतांग-सूत्र में, इसी शब्द का प्रयोग किया है। भिक्षु को कैसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए, इस सम्बन्ध में कहा गया है कि विभज्यवाद का प्रयोग करे। जैन दर्शन में इस शब्द का प्रयोग अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद के अर्थ में किया गया है। जिस अपेक्षा से जिस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता हो, उस अपेक्षा से उसका उत्तर देना ही स्याद्वाद है। अतः अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, विभज्यवाद और अपेक्षावाद समानार्थक शब्द हैं।

भगवती-सूत्र में महावीर और जयन्ती का संवाद, महावीर और गौतम के संवाद तथा महावीर और तापसों के संवाद–यह सिद्ध करते हैं, कि भगवान् महावीर अनेकान्त और स्याद्वाद सिद्धान्त के प्रतिपादक थे। किसी भी प्रश्न का उत्तर वे एकान्तवाद से नहीं देते थे, अनेकान्तवाद से ही दिया करते थे। उनकी दृष्टि में सत्—उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्वभाव से संयुक्त था। गणधर गौतम को भी उन्होंने यही दृष्टि प्रदान की थी, जिसके आधार पर गणधर ने चतुर्दश पूर्वों की संरचना की थी। जैन दर्शन का यह मूल सिद्धान्त है।

जैन दर्शन में सप्तभंगी

वस्तु में अनेक धर्म हैं। किसी एक धर्म का कथन किसी एक शब्द से होता है। यह सम्भव नहीं कि अनेकान्तात्मक वस्तु के सभी धर्मों का वर्णन कर सकें। क्योंकि एक वस्तु के सम्पूर्ण वर्णन का अर्थ है—सभी वस्तुओं का सम्पूर्ण वर्णन। अतः वस्तु का कथन करने के लिए दो दृष्टियाँ हैं—सकलादेश और विकलादेश। सकलादेश का अर्थ है—किसी

एक धर्म के साथ अन्य धर्मों का अभेद करके वस्तु का वर्णन करना। एक गुण में अशेष वस्तु का संग्रह करना सकलादेश है। यह कथन आचार्य अकलंक का है। उन्होंने तत्वार्थ राजवार्तिक में कहा—"एक-गुणमुखेन शेष वस्तुरूप-संग्रहात् सकलादेशः।"

विकलादेश में, एक धर्म की ही अपेक्षा रहती है और शेष की उपेक्षा। जिस धर्म का कथन अभीष्ट होता है, वही धर्म दृष्टि के सामने रहता है। अन्य धर्मों का निषेध नहीं होता, अपितु उस समय प्रयोजन न होने से उनका ग्रहण नहीं होता। यही उपेक्षाभाव है, लेकिन यह निषेध नहीं है। निषेध में संघर्ष है। वहाँ अनेकान्त नहीं, एकान्तवाद हो जाता है। सप्तभंगी को समझने में सकलादेश और विकलादेश का बड़ा महत्व है।

सकलादेश के आधार पर जो सप्तभंगी बनती है, उसे प्रमाण सप्तभंगी कहते हैं। विकलादेश के आधार पर जो सप्तभंगी बनती है, वह नय सप्तभंगी है। इसका अर्थ है कि नय का कथन विकलादेश और प्रमाण का कथन है, सकलादेश। सकल का अर्थ है, सम्पूर्ण। विकल का अर्थ है— अंश-अंश कथन। कथन की ये दो पद्धतियाँ हैं। एक में शेष का अभेद करके कथन करना, और भेद करके अंश-अंश कथन करना।

सप्तभंगों का कथन

आचार्य अकलंक ने तत्वार्थ राजवार्तिक में कहा है कि 'प्रश्नवशाद् एकस्मिन् वस्तुनि अविरोधेन विधि-प्रतिषेध-विकल्पना सप्तभंगी।' एक वस्तु में अविरोधपूर्वक विधि और प्रतिषेध की विकल्पना सप्तभंगी है। जब हम अस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं, तब नास्तित्व भी निषेध रूप से हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। जब हम सत् का प्रतिपादन करते हैं, तब असत् भी सामने आ जाता है। किसी भी वस्तु के विधि और निषेध रूप दो पक्ष वाले धर्म का बिना विरोध के प्रतिपादन करने से जो सात प्रकार के विकल्प उठते हैं, वही सप्तभंगी है। विधि और निषेधरूप धर्म का वस्तु में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। दोनों पक्ष एक ही वस्तु में अविरोधभाव से रहते हैं।

सप्तभंगों का स्वरूप

१. कथंचित् घट है,
२. कथंचित् घट नहीं है,
३. कथंचित् घट है और नहीं है,
४. कथंचित् घट अवक्तव्य है,

५. कथंचित् घट है और अवक्तव्य है,
६. कथंचित् घट नहीं है और अवक्तव्य है,
७. कथंचित् घट है, नहीं है और अवक्तव्य है।

प्रथम भंग विधि की कल्पना के आधार पर है। इसमें घट के अस्तित्व का विधिपूर्वक प्रतिपादन है।

दूसरा भंग प्रतिषेध की कल्पना के आधार पर है। जिस अस्तित्व का प्रथम भंग में विधिपूर्वक प्रतिपादन किया गया है, उसी का इसमें निषेधपूर्वक प्रतिपादन किया गया है।

तीसरा भंग विधि और निषेध दोनों का क्रम से प्रतिपादन करता है। पहले विधि का ग्रहण करता है और बाद में निषेध का। यह भंग प्रथम और द्वितीय दोनों भंगों का संयोग है।

चतुर्थ भंग विधि और निषेध का युगपत् प्रतिपादन करता है। दोनों का युगपत् प्रतिपादन होना, वचन के सामर्थ्य के बाहर है। अतएव इस भंग को अवक्तव्य कहा गया है।

पाँचवाँ भंग विधि और युगपत् विधि-निषेध दोनों का प्रतिपादन करता है। प्रथम और चतुर्थ के संयोग से यह भंग बनता है।

छठा भंग निषेध और युगपत् विधि और निषेध दोनों का कथन है। यह भंग द्वितीय और चतुर्थ—दोनों का संयोग है।

सातवाँ भंग क्रम से विधि और निषेध और युगपत् विधि और निषेध का प्रतिपादन करता है। यह तृतीय और चतुर्थ भंग का संयोग है।

'कथंचित् घट है। इसका क्या अर्थ है?' किस अपेक्षा से घट है। स्वरूप की अपेक्षा से घट है और पररूप की अपेक्षा से घट नहीं है। सर्व पदार्थ स्वरूप की अपेक्षा से हैं, पररूप की अपेक्षा से नहीं है। स्वरूप और पररूप को समझना आवश्यक है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से जिसकी विवक्षा होती है, वह स्वरूप या स्वात्मा है। वक्ता के प्रयोजन के अनुसार अर्थ का ग्रहण करना, स्वात्मा का ग्रहण कहलाता है। इसके विपरीत परात्मा का ग्रहण होता है। वस्तु के स्वरूप और उसके पररूप को समझने से वास्तविक निर्णय हो जाता है, सही रूप सामने आता है।

चार निक्षेप

एक शब्द प्रयोजन के अनुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रत्येक शब्द का चार अर्थों में विभाग किया जाता है। इसी अर्थ विभाग को न्यास एव निक्षेप कहते हैं। ये चार विभाग हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य

और भाव। किसी का एक नाम रख देना, नाम निक्षेप है। मूर्ति और चित्र आदि स्थापना निक्षेप है। भूतकाल और अनागत काल में रहने वाली योग्यता का वर्तमान में आरोप करना, द्रव्य निक्षेप है। वर्तमानकालीन योग्यता का निर्देश करना भाव निक्षेप है। इन चारों निक्षेपों में रहने वाला जो विवक्षित अर्थ है, वह स्वरूप अथवा स्वात्मा कहा जाता है। स्वात्मा से भिन्न अर्थ परात्मा अथवा पररूप है। विवक्षित अर्थ की दृष्टि से घट है, तद्भिन्न दृष्टि से घट नहीं है। यदि इतर दृष्टि से भी घट हो, तो नाम आदि व्यवहार अर्थात् निक्षेप का उच्छेद हो जायेगा। अतः निक्षेप को समझना अनिवार्य है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से स्वरूप और पररूप का विवेचन यहाँ आवश्यक है। घट का द्रव्य मिट्टी है। जिस मिट्टी से घट बना है, उसकी अपेक्षा से वह सत् है। अन्य द्रव्य की अपेक्षा से वह सत् नहीं है। क्षेत्र का अर्थ है—स्थान-विशेष। जिस स्थान पर घट है, उस स्थान की अपेक्षा से वह सत् है। अन्य स्थानों की अपेक्षा से वह असत् है। जिस समय घट है, उस समय की अपेक्षा से वह सत् है। उस समय से भिन्न समय की अपेक्षा से वह असत् है। भाव का अर्थ है—पर्याय अथवा आकार विशेष। जिस आकार या पर्याय का घट है, उसकी अपेक्षा से वह सत् है। तद्भिन्न आकार एवं पर्याय की अपेक्षा से वह असत् है। अतः स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से घट है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से घट नहीं है।

प्रमाण सप्तभंगी

सत्त्व और असत्त्व इन दो धर्मों में से सत्वमुखेन वस्तु का प्रतिपादन करना, प्रमाण वचन का पहला रूप है। असत्त्वमुखेन वस्तु का प्रतिपादन करना, प्रमाण वचन का दूसरा रूप है। सत्त्व और असत्त्व उभय धर्ममुखेन क्रमशः वस्तु का प्रतिपादन करना, प्रमाण वचन का तीसरा रूप है। सत्व और असत्व उभय धर्ममुखेन युगपत् वस्तु का प्रतिपादन करना असम्भव है। इसलिए प्रमाण वचन का यह चतुर्थ रूप अवक्तव्य है। उभयमुखेन युगपत् वस्तु के प्रतिपादन की असम्भवता के साथ-साथ सत्वमुखेन वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है। यह प्रमाण वचन का पाँचवाँ रूप है। उभयमुखेन युगपत् वस्तु के प्रतिपादन की असम्भवता के साथ-साथ असत्वमुखेन भी वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है। यह प्रमाण वचन का छठा रूप बन जाता

है। उभय धर्ममुखेन युगपत् वस्तु के प्रतिपादन की असम्भवता के साथ-साथ उभय धर्ममुखेन क्रमशः वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है। यह प्रमाण वचन का सातवाँ रूप बन जाता है। जैन दर्शन में इसको प्रमाण सप्तभंगी नाम दिया गया है। प्रमाण सप्तभंगी प्रसिद्ध है।

नय सप्तभंगी

वस्तु के सत्त्व और असत्त्व इन दो धर्मों में से सत्त्व धर्म का प्रतिपादन करना, नय वचन का पहला रूप है। असत्त्व धर्म का प्रतिपादन करना, नय वचन का दूसरा रूप है। उभय धर्मों का क्रमशः प्रतिपादन करना, नय वचन का तीसरा रूप है। उभय धर्मों का युगपत् प्रतिपादन करना, असम्भव है। अतः नयवचन का चतुर्थ रूप अवक्तव्य बनता है। नयवचन के के पाँचवें, छठे और सातवें रूपों को प्रमाण वचन के पाँचवे, छठे और सातवें, रूपों के समान समझ लेना चाहिए। जैन दर्शन में नय वचन के इन सात रूपों को नय सप्तभंगी कहा गया है। इस प्रकार अनेकान्तवाद, प्रमाणवाद, नयवाद, सप्तभंगीवाद और स्याद्वाद—जैन दर्शन के विशिष्ट सिद्धान्त हैं।

धारावाहिक ज्ञान

न्याय, वैशेषिक और मीमांसक—धारावाहिक ज्ञानों को प्रमाण मानते हैं। अतः वे गृहीतग्राही होने पर भी प्रमाण ही हैं। बौद्ध दार्शनिक उसे अप्रमाण मानते रहे हैं। जैन परम्परा के श्वेताम्बर दार्शनिक धारावाहिक ज्ञानों को प्रायः प्रमाण ही मानते हैं, उन्हें अप्रमाण नहीं कहा है। लेकिन दिगम्बर आचार्य प्रायः उसे अप्रमाण ही मानते चले आए हैं। अतः दिगम्बरों का प्रमाण लक्षण भी श्वेताम्बराचार्यों से भिन्न प्रकार का ही रहा है। परन्तु समस्त जैनाचार्य स्मरण रूप परोक्ष प्रमाण को एवं स्मृति को प्रमाण ही मानते हैं, अप्रमाण नहीं मानते। न्याय और वैशेषिक स्मृति को प्रमाण मानते हैं। आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने अपनी प्रमाण मीमांसा में धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण सिद्ध किया है। इस प्रकार दार्शनिक एवं तार्किक विद्वानों में कुछ स्थलों पर गम्भीर विचार-भेद भी रहा है, और कहीं पर सहमति भी रही है। भारतीय दर्शन में प्रमाण की चर्चा ने काफी गम्भीर रूप ग्रहण किया है।

१ ....

सूत्रात्मक जैन न्याय ग्रन्थ

....

परीक्षामुख सूत्र

जैन न्याय के सूत्रात्मक ग्रन्थों में प्रथम गणना परीक्षा-मुख की होती है। आचार्य माणिक्यनन्दि ने रचना की है। जैन परम्परा के महान् नैयायिक अकलंक देव के न्याय ग्रन्थों का दोहन करके यह ग्रन्थ लिखा गया है। छह समुद्देशों में विभक्त हैं। सूत्र रचना सुन्दर तथा मधुर है। गागर में सागर भर दिया है। यह प्रमाण बहुल ग्रन्थ है। प्रमाण, प्रमाण का फल, प्रमाणाभास, प्रमाण का प्रमाणत्व, प्रमाण का विषय, प्रमाण के भेद-प्रभेद आदि विषयों का विस्तृत वर्णन किया है। लेकिन नय, निक्षेप और वाद आदि महत्वपूर्ण विषयों की उपेक्षा भी की गई है।

अनन्तवीर्य आचार्य ने परीक्षामुख के सूत्रों पर मध्यम परिमाण की संस्कृत टीका की है। टीका प्रमेयबहुल है। अतः उसका नाम है—प्रमेय रत्नमाला। आचार्य प्रभाचन्द्र ने सूत्रों पर अति विशाल तथा महाकाय टीका लिखी है, जिसका नाम है—प्रमेय कमल मार्तण्ड। यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा-वेदान्त, बौद्ध और चार्वाक का जोरदार खण्ड किया है। केवली भुक्ति और स्त्री मुक्ति का विस्तार से खण्डन किया है। ईश्वरवाद, प्रकृतिवाद, अद्वैतवाद और विज्ञानवाद पर चोट की है।

प्रमाण-नय-तत्त्वालोकालंकार सूत्र

वादिदेव सूरि कृत यह विशुद्ध न्यायग्रन्थ है। आठ परिच्छेदों में विभक्त किया है। इसका भाषा सौष्ठव देखने योग्य है। सूत्र लम्बे हैं,

और समासांत भी। सूत्रों में माधुर्य एवं गाम्भीर्य तो है, लेकिन प्रसाद गुण कम है। निश्चय ही सूत्र अत्यन्त वजनदार हैं। अध्येता और अध्यापक दोनों की कसौटी है। सूत्र संख्या भी काफी अधिक है। प्रमाण-संवद्ध संपूर्ण हैं। नयों पर पूरा परिच्छेद है। सप्तभंगी का विस्तृत वर्णन है, जो जैन न्याय का प्राण रहा है। निक्षेपों का भी वर्णन है। वाद, जल्प एवं वितण्डा जैसे विषयों को भी छोड़ा नहीं गया। न्याय-शास्त्र के इतिहास में आज तक अन्य वैसा ग्रन्थ नहीं लिखा गया। महान् तार्किक वादिदेव सूरि की यह अमर कृति है।

मूल सूत्रों पर रत्नाकर सूरि ने विस्तृत व्याख्या लिखी है। व्याख्या का नाम है—रत्नाकरावतारिका। न्याय-शास्त्र और साहित्यशास्त्र का सुन्दर एवं मधुर संगम है। पदावली अत्यन्त ललित है। अनुप्रास अलंकार का विशाल भण्डार है। वैदिक और बौद्ध दर्शनों का सचोट खण्डन किया गया है। केवली कवलाहार और स्त्री-मोक्ष का जोरदार मण्डन किया गया है। श्वेताम्बर मान्यताओं को तर्कबल से युक्तियुक्त सिद्ध किया गया है। अन्य दर्शनों का खण्डन है।

स्वयं आचार्य वादिदेव सूरि ने स्व-रचित सूत्रों पर अतिविशाल तथा महाकाय भाष्य लिखा है, जिसका नाम है—स्याद्वाद रत्नाकर। वस्तुतः आज तक किसी भी अन्य न्याय ग्रन्थ पर इतना विशाल भाष्य नहीं लिखा गया। प्रमाणशास्त्र का, न्याय-शास्त्र का, वैसा कोई विषय नहीं छोड़ा गया, जिस पर आचार्य वादिदेव ने जमकर न लिखा हो। इस एक ही ग्रन्थ को पढ़कर समस्त भारतीय दर्शन और समस्त भारतीय न्याय पर अधिकार किया जा सकता है। न्याय-शास्त्र का कोई वाद छूट नहीं सका है। आचार्य की प्रवाहमयी भाषा है, तर्कों की गर्जना है और न्याय प्रमेयों की मूसलाधार वर्षा है। कोई वादी सामने टिक नहीं पाता।

जैन-न्याय का यह अक्षय भण्डार है। अन्य मत के प्रमाणों में दोष दिखाकर स्वमत सिद्ध प्रमाणों की, प्रमाण के विषयों की, प्रमाण के फलों की तथा प्रमाण के प्रमाणत्व की लम्बी चर्चा प्रस्तुत की है। स्याद्वाद और सप्तभंगी की चर्चा गहन-गम्भीर है। स्याद्वाद और सप्तभंगी, नयवाद और अनेकान्त दृष्टि, जैनदर्शन के प्रमाणभूत एवं प्राणभूत सिद्धान्त हैं। जैनदर्शन का आधार ही ये रहे हैं। बौद्ध का विज्ञानवाद एवं शून्यवाद, वेदान्त का अद्वैतवाद एवं मायावाद तथा सांख्य का प्रकृतिवाद और न्याय का ईश्वरवाद—ये सब स्याद्वाद रत्नाकर के रत्न हैं।

प्रमाण-मीमांसा सूत्र

आचार्य हेमचन्द्र सूरि की यह एक अमर कृति है। इसका विषय है—प्रमाण-शास्त्र। प्रमाण के अभाव में प्रमेय की सिद्धि कैसे हो सकती है? अतः स्वमत और परमत को समझने के लिए प्रमाण का परिज्ञान अनिवार्य है। यह प्रमाण ही प्रमाण-मीमांसा ग्रन्थ का मुख्य विषय है।

यह भी एक सूत्रात्मक ग्रन्थ है। प्रमाण-मीमांसा के सूत्र लघु, प्रशस्त, सरल और सुन्दर हैं। सूत्रों की संख्या भी बहुत कम है। आचार्य ने स्वयं सूत्रों पर वृत्ति की रचना की है। वृत्ति मध्यम परिमाण वाली है। वृत्ति की भाषा प्रसादपरिपूर्ण है। अध्याय पाँच और आन्हिक दश में विभक्त है ग्रन्थ। परन्तु दुर्भाग्य से पूर्ण ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। काल कवलित हो चुका है। वृत्ति में प्रमाण से सम्बद्ध समस्त विषयों की परिचर्चा की है, आचार्य ने स्वयं। प्रमाण का लक्षण, प्रमाण के भेद, प्रमाण का विषय, प्रमाण का प्रामाण्य, प्रमाण का फल—इन समस्त विषयों पर आचार्य का पूर्ण अधिकार प्रतीत होता है। इन्द्रियों की और मन की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। केवलज्ञान, अवधिज्ञान और मतिज्ञान का स्वरूप बताया है। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमा और उसके फल की भी बहुत सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है।

न्यायरत्नसार सूत्र

यह न्याय-शास्त्र का सूत्रात्मक ग्रन्थ है। इसके रचयिता स्थानकवासी समाज के प्रसिद्ध विद्वान् आचार्यप्रवर पूज्य घासीलालजी महाराज हैं। स्थानकवासी परम्परा का यह सूत्रात्मक प्रथम ग्रंथ है। सूत्रों की भाषा सरल है। सूत्रों में प्रसाद गुण की कमी नहीं है। ग्रन्थ छह अध्यायों में विभक्त है। ग्रन्थ का विषय प्रमाण, प्रमाण के भेद, प्रमाण का लक्षण, प्रमाण का फल और नय, सप्तभंगी, वाद, जल्प एवं वितण्डा आदि का स्वरूप भी बताया है। यह सूत्रात्मक कृति अति सुन्दर है।

आचार्य ने स्वयं सूत्रों पर न्यायरत्नावली संस्कृत टीका लिखी है और एक विस्तृत टीका भी लिखी है, जिसका नाम—स्याद्वाद मार्तण्ड है। ग्रंथ रचना से पूर्व आचार्य के समक्ष प्रमाण-नय-तत्त्वालोकालंकार सूत्र और उन व्याख्याओं का आदर्श अवश्य रहा है। मूल प्रेरणा और सामग्री का ग्रहण भी अधिकांश वहीं से किया है। व्याख्याओं का नाम भी ग्रन्थ के विषय के अनुकूल है।

स्थानकवासी परम्परा में, सूत्रात्मक न्याय का यह प्रथम ग्रन्थ है। दिगम्बर परम्परा के परीक्षामुख तथा श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के प्रमाण-नयतत्त्वालोकालंकार से भी अधिक स्पष्ट, अधिक सरल और अधिक बुद्धिगम्य है—यह लघुकाय ग्रन्थ।

तेरापन्थी परम्परा का न्याय-ग्रन्थ 'भिक्षु न्यायकणिका' भी एक लघुकाय सुन्दर ग्रन्थ कहा जा सकता है।

प्रमाण-प्ररूपणा

१ ....

प्रमाण और नय

....

जैन दर्शन में सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहा गया है। मिथ्याज्ञान अप्रमाण कहा गया है। प्रमाण और नय के द्वारा वस्तु स्वरूप को समझना सम्यग्ज्ञान है। जो ज्ञान शब्दों में उतारा जा सके, जिसमें वस्तु को उद्देश्य और विधेय रूप में कहा जा सके, उसे नय कहते हैं। उद्देश्य और विधेय के विभाग के बिना ही जिसमें अविभक्त रूप से वस्तु का ज्ञान हो, उसे प्रमाण कहा जाता है। जो ज्ञान वस्तु के अनेक अंशों को जाने, वह प्रमाण और अपनी विवक्षा से किसी एक अंश को प्रमुख मानकर व्यवहार करना, नय है। नय और प्रमाण दोनों ज्ञान हैं, किन्तु वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म को ग्रहण करने वाला नय है, और अनेक धर्मों वाली वस्तु का अनेक रूप से निश्चय करना प्रमाण है।

जिस प्रकार दीपक में नित्य धर्म भी रहता है, और अनित्य धर्म भी। यहाँ अनित्यत्व का निषेध न करके अपेक्षावशात् दीपक को नित्य कहना, नय है। प्रमाण की अपेक्षा नित्यत्व तथा अनित्यत्व दोनों धर्मों वाला होने से उसे नित्य एवं अनित्य कहा जाएगा। अतः प्रमाण और नय से वस्तु का यथार्थ परिबोध होता है। जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। वह किसी भी प्रकार के एकान्तवाद को स्वीकार नहीं करता। तत्व को यथार्थ रूप में समझने के लिए प्रमाण और नय, दोनों की नितान्त आवश्यकता है।

प्रमाण विचार

जैन दर्शन में यथार्थ ज्ञान को प्रमाण कहा गया है। ज्ञान के पांच भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल। इन पांचों ज्ञानों को

ज्ञान शब्द से कहा गया है। ज्ञान को दो भागों में विभक्त किया गया है—प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण। प्रथम के दो मति-श्रुत परोक्ष हैं, शेष तीन प्रत्यक्ष। जो ज्ञान, इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, केवल आत्मा की योग्यता से उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है। जो ज्ञान, इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है, वह परोक्ष है। अन्य दर्शनों में, इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है। जैन दर्शन में, उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है। वह केवल व्यवहार में प्रत्यक्ष है, वस्तुतः तो वह परोक्ष ही है। अतः जैनदर्शन में, प्रमाण दो प्रकार का कहा गया है—प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण। इन दो भेदों में, अन्य सबका समावेश हो जाता है।

प्रमाण के भेद

प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, साक्षात् आत्मा से जो ज्ञान हो, वह प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। जैसे कि अवधि, मनःपर्याय और केवल। प्रत्यक्ष की यह व्याख्या निश्चय नय से है। व्यवहार नय से तो इन्द्रिय और मन से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान हो, वह परोक्ष प्रमाण है। जैसे मति एवं श्रुत। परोक्ष प्रमाण की दूसरी व्याख्या यह भी है, कि जो ज्ञान अस्पष्ट हो, अविशद हो, उसे परोक्ष प्रमाण कहते हैं। जैसे कि स्मरण एवं प्रत्यभिज्ञान आदि। परोक्ष प्रमाण के पांच भेद होते हैं—स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

अवधिज्ञान

इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादापूर्वक जो ज्ञान रूपी पदार्थों को जानता है, वह अवधिज्ञान है। उसके दो भेद हैं—भवप्रत्यय और क्षयोपशमप्रत्यय। जिस ज्ञान के होने में, भव ही कारण हो, जन्म ही निमित्त हो, वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है। जैसे कि नारक जीवों को और देवों को जन्म से ही अवधिज्ञान हो जाता है। जप, तप एवं ध्यान आदि की साधना से मनुष्य तथा तिर्यञ्चों को जो अवधिज्ञान होता है, वह क्षयोपशमप्रत्यय अवधिज्ञान कहा गया है। इस को गुणप्रत्यय तथा लब्धिप्रत्यय, अवधिज्ञान भी कहा जाता है।

मनःपर्याय ज्ञान

इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादापूर्वक जो ज्ञान, संज्ञी जीवों के मन में स्थित भावों को जानता

है, वह मनःपर्याय ज्ञान होता है। उसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। दूसरे के मन में सोचे हुए भावों को सामान्य रूप से जानना ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान होता है। जैसे उस व्यक्ति विशेष ने घट लाने का विचार किया है। दूसरे के मन में सोचे हुए पदार्थ के विषय में विशेष रूप से जानना, विपुलमति मनःपर्याय ज्ञान है। जैसे उस व्यक्ति विशेष ने जिस घट को लाने का विचार किया है, वह घट रक्त है, गोलाकार है और काशी मे बना है एवं शीतकाल में बनाया गया है। इस प्रकार घट की पर्यायों को जानना, उसकी विशेष अवस्थाओं का परिबोध करना। यह विपुलमति मनःपर्याय ज्ञान, ऋजुमति से सूक्ष्म होता है।

केवलज्ञान

इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना त्रिकाल तथा त्रिलोक स्थित समस्त पदार्थों को युगपत् हस्तामलकवत् जानना केवलज्ञान है। केवल के विषय रूपी एवं अरूपी समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्याय हैं। ज्ञानावरण कर्म के सर्वथा क्षय से जो ज्ञान प्रकट होता है, वह केवलज्ञान है। इसको क्षायिक ज्ञान भी कहा जाता है।

परोक्ष ज्ञान

परोक्ष ज्ञान के दो भेद हैं—मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान। पाँच इन्द्रिय और मन के द्वारा योग्य देश में स्थित पदार्थों का जो ज्ञान होता है, वह मतिज्ञान कहा गया है। स्पर्शन से स्पर्श का ज्ञान, रसना से रस का ज्ञान, घ्राण से गन्ध का ज्ञान, नेत्र से रूप का ज्ञान और श्रोत्र से शब्द का ज्ञान, सब मतिज्ञान हैं।

मतिज्ञान के भेद

मतिज्ञान के चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इन्द्रिय और पदार्थ के योग्य स्थान में रहने पर, सामान्य प्रतिभासरूप दर्शन के बाद होने वाले अवान्तर सत्ता सहित वस्तु के सर्वप्रथम ज्ञान को अवग्रह कहते हैं। दूर से किसी वस्तु का ज्ञान होना। अवग्रह से ज्ञात पदार्थ के विषय में, उत्पन्न संशय को दूर करते हुए, विशेष की जिज्ञासा को ईहा कहते हैं। जैसे दूरस्थ वस्तु मनुष्य है, अथवा स्थाणु। यह ज्ञान दोनों पक्षों में रहने वाले संशय को दूर कर एक ओर झुकता है। परन्तु इतना क्षीण होता है कि ज्ञाता को पूर्ण निश्चय नहीं होता। ईहा से ज्ञात पदार्थों में 'यह वही है, अन्य नहीं है।' इस निश्चयात्मक ज्ञान को अवाय कहा गया है। जैसे यह मनुष्य ही है। अवाय से ज्ञात पदार्थों का ज्ञान इतना दृढ़ हो

जाये कि कालान्तर में भी उसका कभी विस्मरण न हो, तो उसको धारणा कहा जाता है।

श्रुतज्ञान के भेद

शास्त्र को सुनने और पढ़ने से, इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—अंगप्रविष्ट और अंग-बाह्य। जिन आगमों में गणधरों ने तीर्थंकर भगवान् के उपदेश को ग्रथित किया है, वह अंगप्रविष्ट होता है। जैसे कि द्वादशांग वाणी। द्वादशांगी के बाहर का शास्त्रज्ञान, अंग बाह्य कहा गया है। जैसे कि उपांग, मूल और छेद शास्त्र। दश प्रकीर्णकों का समावेश भी इसमें हो जाता है। श्रुतज्ञान के चतुर्दश भेद भी अन्यत्र कहे गए हैं।

प्रकारान्तर से प्रमाण भेद

भगवती सूत्र, शतक पाँच, उद्देशक चार में तथा अनुयोगद्वार सूत्र में, प्रमाण के चार भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम। न्यायशास्त्र में भी ये ही चार प्रमाण स्वीकृत हैं। चतुर्थ भेद में नाम का अन्तर है। वहाँ आगम न कहकर शब्द प्रमाण कहा गया है। शेष तीन में अन्तर नहीं है।

१. प्रत्यक्ष—अक्ष शब्द के दो अर्थ हैं—आत्मा और इन्द्रिय। इन्द्रियों की सहायता बिना जीव के साथ सीधा सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैसे अवधि, मनःपर्याय और केवल। इन्द्रियों से सीधा सम्बन्ध रखने वाला एवं इन्द्रियों की सहायता द्वारा जीव के साथ सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान, प्रत्यक्ष कहा जाता है। निश्चय में तो अवधि, मनःपर्याय और केवल ही प्रत्यक्ष हैं। व्यवहार में इन्द्रियों की सहायता से होने वाला ज्ञान भी प्रत्यक्ष कहा जाता है। यह लोक प्रत्यक्ष है।

२. अनुमान—साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहा गया है। लिंग अर्थात् हेतु के ग्रहण और सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति के स्मरण के पश्चात् जिस से पदार्थ का ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहा गया है। यही है, साधन से साध्य का ज्ञान। जैसे पर्वत में धूम से अग्नि का ज्ञान होता है।

३. उपमान—जिसके द्वारा सादृश्य से उपमेय पदार्थों का ज्ञान होता है, उसे उपमान कहते हैं। जैसे कि रोज गाय के समान होता है। यह सादृश्य ज्ञान है।

४. आगम—शास्त्र के द्वारा होने वाला ज्ञान, आगम अथवा शब्द प्रमाण कहा जाता है।

नय विचार

किसी विषय के सापेक्ष निरूपण को नय कहा जाता है। किसी एक या अनेक वस्तुओं के विषय में भिन्न-भिन्न मनुष्यों के अथवा एक ही व्यक्ति के भिन्न-भिन्न विचार होते हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि से देखा जाए, तो ये विचार अपरिमित हैं। उन सबका विचार प्रत्येक को लेकर करना असम्भव है। अपने प्रयोजन के अनुसार अतिविस्तार और अतिसंक्षेप दोनों को छोड़कर किसी विषय का मध्यम दृष्टि से प्रतिपादन करना ही नय है। वक्ता के अभिप्राय विशेष को नय कहा गया है।

नय के भेद

नय के संक्षेप में दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। संसार में प्रत्येक वस्तु भिन्न भी है, और अभिन्न भी है। वस्तुओं में समानता और असमानता, दोनों अंश होते हैं। अतः वस्तु मात्र को सामान्य-विशेष, उभयात्मक कहा गया है। सामान्यगामी विचार द्रव्यार्थिक नय होता है, और विशेषगामी विचार पर्यायार्थिक नय होता है। द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद होते हैं, और पर्यायार्थिक नय के चार भेद होते हैं। नय के सात भेद होते हैं। द्रव्य नय, पर्याय नय का खण्डन नहीं करता। पर्याय नय, द्रव्य नय का खण्डन नहीं करता। परन्तु अपनी दृष्टि को प्रधान रखकर, दूसरी को गौण समझता है। दोनों अपने को मुख्य, और दूसरे को गौण समझते हैं, पर विरोध नहीं करते हैं।

सामान्य और विशेष

सामान्य और विशेष, दोनों वस्तु के धर्म हैं। वस्तु में अन्य धर्मों के समान, ये दोनों भी रहते हैं। सामान्य और विशेष को समझने के लिए एक दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे किसी ने सहसा सागर को देखा। वह एक विशाल जलराशि है। यह सामान्य का परिज्ञान है, लेकिन जब व्यक्ति सागर के आकार-प्रकार को देखता, आयतता-दीर्घता को देखता है, और उसके रंग-रूप को देखता है, तब वह उसके विशेष धर्मों को देखता है। सागर सामान्य है, और तरंग विशेष है। सामान्य को ग्रहण करना, द्रव्यदृष्टि है। विशेष को ग्रहण करना, पर्याय दृष्टि है। मूल में तो नय के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय।

नयों के सात भेद

दो नयों के मिलकर सात भेद होते हैं। जैसे कि नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। नैगम नय का विषय सबसे

अधिक विशाल है। क्योंकि वह लोकरूढ़ि के अनुसार, सामान्य और विशेष दोनों को कभी मुख्य एवं कभी गौणभाव से ग्रहण करता है। संग्रह केवल सामान्य को ग्रहण करता है। अतः उसका विषय नैगम से कम है। व्यवहार नय का विषय उससे भी कम है। क्योंकि वह संग्रह नय से गृहीत वस्तु में भेद डालता है। भेद डालने के कारण ही उसे व्यवहार नय कहा जाता है। इस प्रकार तीनों का विषय उत्तरोत्तर संकुचित होता जाता है। नैगम नय से सामान्य-विशेष और उभय का ज्ञान होता है। संग्रह नय से सामान्य मात्र का बोध होता है। व्यवहार नय लौकिक व्यवहार का अनुसरण एवं अनुगमन करता है।

आगे के चार नयों का विषय भी आगे-आगे संकुचित होता जाता है। ऋजुसूत्र भूत और भविष्य की कालगणना को छोड़कर, वर्तमान की कालगणना की पर्याय को ही ग्रहण करता है। शब्द नय वर्तमानकाल में भी लिंग, कारक, संख्या और वचन आदि के कारण भेद डाल देता है। समभिरूढ व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के कारण भेद डालता है। एवंभूत नय तत्-तत् क्रिया में लगी हुई वस्तु को ही वह नाम देता है।

सात नयों का दूसरी तरह भी विभाग किया जा सकता है। जैसे व्यवहार नय और निश्चय नय। एवंभूत नय निश्चय नय की पराकाष्ठा है। नयों का विभाग इस प्रकार भी होता है—शब्द नय और अर्थ नय। जिस विचार में अर्थ की प्रधानता हो, वह अर्थ नय। जिसमें शब्द की प्रधानता हो, वह शब्द नय। ऋजुसूत्र तक चार अर्थ नय हैं, और शेष तीन शब्द नय हैं। नयों का विभाग इस प्रकार भी हो सकता है—ज्ञान नय और क्रिया नय। पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानना, ज्ञान नय है। उसे अपने जीवन में उतारना, क्रिया नय है। अन्य भी प्रकार से विभाजन किया जा सकता है।

नयों की परिभाषा

१. जो विचार लौकिक रूढ़ि और लौकिक संस्कार का अनुसरण करे, उसे नैगम नय कहते हैं।

२. जो विचार भिन्न-भिन्न वस्तु तथा व्यक्तियों में रहे, किसी एक सामान्य तत्व के आधार पर, सबमें एकता का प्रतिपादन करे, उसको संग्रह नय कहा जाता है।

३. जो विचार संग्रहनय के अनुसार, एकत्व रूप से ग्रहण की वस्तुओं में व्यावहारिक प्रयोजन के लिए भेद डाले, उसे व्यवहार नय कहा गया है।

इन तीनों नयों की मुख्य रूप से सामान्यदृष्टि रहती है। अतः ये द्रव्यार्थिक नय कहे जाते हैं।

४. जो विचार भूत और भविष्यकाल की उपेक्षा करके, वर्तमान पर्याय मात्र को ग्रहण करे उसको ऋजुसूत्र नय कहा गया है।

५. जो विचार शब्द प्रधान हो, लिंग एवं कारक आदि शब्दगत धर्मों के भेद से अर्थ में भेद माने, उसको शब्द नय कहा जाता है।

६. जो विचार शब्द के रूढ़ अर्थ पर निर्भर न रहकर, व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के अनुसार समान अर्थ वाले शब्दों में भी भेद माने, उसको समभिरूढ नय कहा गया है।

७. जो विचार शब्दार्थ के अनुसार क्रिया होने पर ही उस वस्तु को तद्रूप स्वीकार करे उसको एवंभूत नय कहा जाता है। पीछे के चार नय पर्यायार्थिक नय कहे जाते हैं।

अध्यात्मशास्त्र में नय विचार

नयों के सम्बन्ध में एक सिद्धान्त है—'जितने प्रकार के वचन, उतने प्रकार के नय हैं।" नय का वचन के साथ सम्बन्ध है। यदि वचन के साथ उसका सम्बन्ध है, तो उपचार से नय भी वचनात्मक कहा जा सकता है। प्रत्येक नय, वचन द्वारा प्रकट किया जा सकता है। अतएव वचन को भी नय कह सकते हैं। इस प्रकार प्रत्येक नय दो प्रकार का होता है—भाव नय और द्रव्य नय। ज्ञानात्मक नय को भाव नय कहते हैं, और वचनात्मक नय को द्रव्य नय कहते हैं।

नय के दो भेद

मूल में नय के दो भेद हैं—निश्चय और व्यवहार। व्यवहार नय को उपनय भी कहते हैं। जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करता है, उसको निश्चय नय कहते हैं। जो दूसरे पदार्थों के निमित्त से अन्य रूप प्रकट करता है, उसे व्यवहार नय कहा गया है। जैसे कि घृत घट है।

निश्चय नय के भेद

निश्चय नय के दो भेद हैं—द्रव्य नय और पर्याय नय। द्रव्य नय सामान्य को ग्रहण करता है, और पर्याय नय विशेष को। द्रव्य नय के तीन भेद हैं—नैगम, संग्रह और व्यवहार। पर्याय नय के चार भेद हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। जिनभद्रगणि द्रव्य नय के चार भेद और पर्याय नय के तीन भेद मानते हैं। सिद्धसेन दिवाकर द्रव्यनय के तीन और पर्याय नय के चार भेद मानते हैं।

व्यवहार नय के भेद

व्यवहार नय के दो भेद हैं—सद्भूत व्यवहार नय और असद्भूत व्यवहार नय। एक वस्तु में भेद को विषय करने वाला, सद्भूत व्यवहार नय। उसके दो भेद हैं—उपचरित सद्भूत व्यवहार नय, अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय।

असद्भूत व्यवहार नय के भी दो भेद हैं—उपचरित असद्भूत व्यवहार नय। अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय।

सोपाधि गुण-गुणी में, भेद ग्रहण करने वाला, सद्भूत व्यवहार नय। निरुपाधि गुण-गुणी में, भेद ग्रहण करने वाला, अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय। जैसे जीव का मतिज्ञान। यहाँ पर उपाधि रूप कर्म के आवरण से दूषित आत्मा का मलसहित ज्ञान होने से जीव का मतिज्ञान सोपाधिक होने के कारण उपचरित सद्भूत व्यवहार नय कहा जाता है। निरुपाधि अर्थात् उपाधिरहित गुण के साथ, उपाधिशून्य आत्मा, जब सम्पन्न होता है, तब अनुपाधिक गुण गुणी के भेद से भिन्न अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय सिद्ध होता है। जैसे केवलज्ञानरूप गुण से सहित निरुपाधिक आत्मा।

सम्बन्धरहित वस्तु में सम्बन्ध को विषय करने वाला, उपचरित असद्भूत है। जैसे देवदत्त का धन। यहाँ पर देवदत्त का धन के साथ स्वाभाविक रूप से सम्बन्ध माना गया है। वह कल्पित होने से उपचरित सिद्ध है, क्योंकि देवदत्त और धन ये दोनों एक द्रव्य नहीं हैं। अतः भिन्न द्रव्य होने से देवदत्त तथा धन में सद्भूत अर्थात् यथार्थ सम्बन्ध नहीं है। असद्भूत करने से उपचरित असद्भूत व्यवहार नय कहा गया है।

सम्बन्ध सहित वस्तु में सम्बन्ध को विषय करने वाला, अनुपचरित असद्भूत है। यह भेद जहाँ कर्मजनित सम्बन्ध है, वहाँ होता है। जैसे जीव का शरीर। जीव और शरीर का सम्बन्ध कल्पित नहीं है, किन्तु जीवन भर स्थायी होने से अनुपचरित है, तथा जीव और शरीर के भिन्न होने से असद्भूत व्यवहार है।

एक-एक नय के शत-शत भेद होते हैं। अतः सात मूल नयों के सात सौ भेद हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने नैगम नय का संग्रह एवं व्यवहार में समावेश करके मूल नय छह माने हैं। इस अपेक्षा से नयों के छह-सौ भेद होते हैं। द्रव्यार्थिक नय के चार भेद तथा शब्द, समभिरूढ़ और

एवंभूत, इन तीनों को एक मानकर नय के मूल भेद पांच होते हैं। इस अपेक्षा से नय के पांच-सौ भेद कहे जाते हैं। द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद—संग्रह, व्यवहार एवं ऋजुसूत्र और चतुर्थ शब्द नय—शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत को मिलाकर, नयों के चार-सौ भेद होते हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, मूल नय दो होने से नयों के दो-सौ भेद होते हैं। नयों के ये स्थूल भेद हैं, वैसे तो संख्यात-असंख्यात भेद होते हैं।

□

२

वस्तु का लक्षण

जैन दर्शन में, वस्तु का लक्षण इस प्रकार किया गया है—'**सामान्य-विशेषात्मकं स्वतु**। वस्तु में सामान्य और विशेष दोनों, प्रकार के धर्म एक साथ रहते हैं। वस्तु को ज्ञेय भी कहते हैं। क्योंकि वह ज्ञान का विषय है। वस्तु को प्रमेय भी कहते हैं। क्योंकि वह प्रमा का विषय है। वस्तु को अभिधेय भी कहते हैं। क्योंकि वह अभिधा का विषय है। प्रमाण एवं नय से वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है। वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—'प्रमाण-नयैरधिगमः।' प्रमाण और नयों से वस्तु का, तत्त्व का अधिगम अर्थात् ज्ञान होता है।

तत्त्वार्थ सूत्र में, वस्तु का लक्षण इस प्रकार किया गया है—'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्त सत्।' जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—तीनों एक साथ रहते हों, उसे सत् अर्थात् वस्तु, द्रव्य तथा तत्व कहते हैं। वेदान्त में एकमात्र ब्रह्म को सत् कहा गया है, और एकान्त ध्रुव, कूटस्थ तथा नित्य माना गया है। बौद्ध दर्शन में वस्तु को क्षणिक एवं अनित्य माना गया है सांख्य दर्शन में पुरुष को कूटस्थ नित्य तथा प्रकृति को परिणामि नित्य कहा जाता है। न्याय दर्शन में, परमाणु, आत्मा, आकाश और काल आदि को नित्य यथा घट-पट आदि को सर्वथा अनित्य कहा गया है। जैन दर्शन से भिन्न, अन्य दर्शन वस्तु को या तो एकान्त नित्य मानते हैं, या फिर एकांत अनित्य स्वीकार करते हैं।

जैन दर्शन की मान्यता है, कि वस्तु जड़ हो, या चेतन, वह न एकान्त नित्य है, और न एकान्त अनित्य। वस्तु सूक्ष्म एवं बादर हो सकती है, तथा वस्तु मूर्त एवं अमूर्त हो सकती है। लेकिन ये सब वस्तु कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य होती हैं। एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य नहीं। क्योंकि

प्रत्येक वस्तु में दो अंश होते हैं—एक बदलने वाला, दूसरा नहीं बदलने वाला। एक स्थिर एवं दूसरा अस्थिर। स्थिर अंश को ध्रुव कहते है, और अस्थिर अंश को उत्पाद तथा व्यय कहा गया है। ध्रुव अंश को द्रव्य कहते हैं, और अध्रुव अंश को पर्याय कहा जाता है। अतः जगत् की प्रत्येक वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य है, और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है, क्षणिक है, क्षण-भंगुर है। वस्तु के नित्यत्व एवं अनित्यत्व को लेकर ही जैन दर्शन में सप्त-भंगी का अवतरण किया जाता है। यदि वस्तु को एकान्त नित्य माना जाए, तो उसमें कोई कार्य नहीं हो सकता। यदि एकान्त अनित्य माना जाए तो उसमें पूर्वापर पर्याय का प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता। इन कारणों से एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य—दोनों पक्ष तर्क तथा युक्ति के विपरीत है।

द्रव्य और तत्व

प्रमेय, ज्ञेय, अभिधेय, वस्तु और तत्व सब पर्यायवाची हैं। जैन दर्शन में, मुख्य रूप में द्रव्य और तत्व शब्दों का प्रयोग किया जाता है। षड् द्रव्य और नव तत्व—जैन दर्शन के मुख्य विषय हैं। दर्शनशास्त्र में और तर्कशास्त्र में द्रव्यों की मीमांसा होती है, और अध्यात्मशास्त्र में तत्त्वों की विवेचना की जाती है। साधना की दृष्टि से भी तत्वों का अधिक महत्त्व माना जाता है। जैन विज्ञान की दृष्टि से जीव को छोड़कर शेष पाँच द्रव्यों का अधिक महत्व समझा जाता है। पर, प्रमाण और ज्ञान के विषय, दोनों माने जाते हैं।

षड् द्रव्य

तत्त्वार्थ सूत्र में, वाचक उमास्वाति ने द्रव्य की व्याख्या इस प्रकार की है—'गुण पर्यायवद् द्रव्यम्'—गुण और पर्याय के आश्रय को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'द्रवति तान् तान् पर्यायान् गच्छति' इति द्रव्यम्। उसके छह भेद हैं—

१. धर्म द्रव्य	जीव-पुद्गल की गति सहायक
२. अधर्म द्रव्य	जीव-पुद्गल की स्थिति सहायक
३. आकाश द्रव्य	जीव-पुद्गल को अवकाश देने वाला
४. काल द्रव्य	द्रव्यों में वर्तना करने वाला
५. जीव द्रव्य	जिसमें उपयोग हो
६. पुद्गल द्रव्य	जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हो

द्रव्यों के गुण

१. **धर्मास्तिकाय के चार गुण—**

१. अरूपित्व	२. अचेतनत्व
३. अक्रियात्व	४. गति सहायता

२. **अधर्मास्तिकाय के चार गुण—**

१. अरूपित्व	२. अचेतनत्व
२. अक्रियात्व	४. स्थिति सहायता

३. **आकाशास्तिकाय के चार गुण—**

१. अरूपित्व	२. अचेननत्व
३. अक्रियात्व	४. अवगाहना-दान

४. **काल द्रव्य के चार गुण—**

१. अरूपित्व	२. अचेतनत्व
३. अक्रियात्व	४. वर्तना

५. **पुद्गलास्तिकाय के चार गुण—**

१. रूपित्व	२. अचेतनत्व
३. सक्रियात्व	४. पूरण-गलन

६. **जीवास्तिकाय के चार गुण—**

१. ज्ञान	२. दर्शन
३. चारित्र	४. वीर्य

द्रव्यों के पर्याय :

१. **धर्मास्तिकाय के चार पर्याय—**

१. स्कन्ध	२. देश
३. प्रदेश	४. अगुरुलघु

२. **अधर्मास्तिकाय के चार पर्याय—**

१. स्कन्ध	२. देश
३. प्रदेश	४. अगुरुलघु

३. **आकाशास्तिकाय के चार पर्याय—**

१. स्कन्ध	२. देश
३. प्रदेश	४. अगुरुलघु

४. काल द्रव्य के चार पर्याय—

१. अतीत २. अनागत
३. वर्तमान ४. अगुरुलघु

५. पुद्गलास्तिकाय के पाँच पर्याय—

१. वर्ण २. गन्ध
३. रस ४. स्पर्श
५. अगुरुलघु

६. जीवास्तिकाय के चार पर्याय—

१. अव्याबाध २. अनवगाह
३. अमूर्तत्व ४. अगुरुलघु

द्रव्य के सामान्य गुण

जो गुण समस्त द्रव्यों में रहते हैं, उन्हें सामान्य गुण कहते हैं। वे छह प्रकार के हैं—

१. अस्तित्व, द्रव्य का सदा सत् अर्थात् विद्यमान रहना, अस्तित्व गुण है। इस गुण के होने से द्रव्य में सद्‌रूपता का व्यवहार होता है।

२. वस्तुत्व, द्रव्य का सामान्य-विशेषात्मक स्वरूप वस्तुत्व गुण है। द्रव्य में अर्थक्रिया का होना, वस्तुत्व गुण है। जैसे घट में जल धारण रूप अर्थक्रिया। अवग्रह ज्ञान में समस्त पदार्थों के सामान्य स्वरूप का आभास होता है, और अवाय में विशेष का भी आभास हो जाता है।

३. द्रव्यत्व, गुण और पर्यायों का आधार होना, आश्रय होना, द्रव्यत्व गुण है।

४. प्रमेयत्व, प्रत्यक्ष एवं परोक्ष आदि प्रमाणों का विषय होना, प्रमेयत्व गुण है।

५. अगुरुलघुत्व, द्रव्य का गुरु अर्थात् भारी न होना, या लघु अर्थात् हल्का न होना, अगुरुलघुत्व गुण है। अगुरुलघुत्वगुण सूक्ष्म है। अतः केवल अनुभव का विषय है।

६. प्रदेशवत्त्व, वस्तु के निरंश अंश को प्रदेश कहते हैं। द्रव्यों का प्रदेश सहित होना, प्रदेशवत्त्व गुण है। इसके कारण द्रव्य का आकार अवश्य होता है।

पुद्गल के छह भेद

पुरण-गलन धर्म वाला तथा रूपी द्रव्य को पुद्गल कहते हैं, उसके छह भेद हैं—

१. सूक्ष्म-सूक्ष्म, परमाणु पुद्गल।

२. सूक्ष्म, दो प्रदेश से लेकर, सूक्ष्म रूप में परिणत अनन्त प्रदेशों का स्कन्ध।

३. सूक्ष्म-बादर, गन्ध के पुद्गल।

४. बादर-सूक्ष्म, वायुकाय का शरीर।

५. बादर, ओस आदि अप्काय का शरीर।

६. बादर-बादर, अग्नि, वनस्पति, पृथ्वी तथा त्रसकाय के जीवों का शरीर।

दशवैकालिक अध्ययन चतुर्थ भाष्य गाथा साठ की टीका में कहा गया है, कि सूक्ष्म-सूक्ष्म तथा सूक्ष्म का इन्द्रियों से अनुभव नहीं हो सकता। इन दोनों में परमाणु या प्रदेशों का भेद है। सूक्ष्म-सूक्ष्म एक ही परमाणु होता है, वह एक ही आकाश प्रदेश को घेरता है। सूक्ष्म में परमाणु अधिक होते हैं, आकाश प्रदेश भी अनेक। सूक्ष्म बादर का केवल घ्राण से अनुभव किया जा सकता है, और किसी इन्द्रिय से नहीं। बादर सूक्ष्म का स्पर्शन से, बादर का नेत्र और स्पर्शन से, बादर-बादर का समस्त इन्द्रियों से अनुभव किया जा सकता है। पुद्गल के ये छह भेद, उसकी पर्याय हैं, उसकी अवस्था विशेष हैं, जो कभी नजर पड़ती हैं, और कभी नजर नहीं भी पड़ती हैं।

तत्त्व की परिभाषा

नवतत्त्व में मुख्य तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। इसके अतिरिक्त सात तत्त्व दोनों के संयोग और वियोग से बने हैं। दो पदार्थों के मिलन को संयोग और दोनों के पृथक् होने को वियोग कहते हैं। सातों तत्त्व पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं हैं, उनमें कुछ संयोग से बने हैं, और कुछ वियोग से। आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप—ये चारों तत्त्व संयोग से बने हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तीनों तत्त्व वियोग से बने हैं। जीव के आत्म-प्रदेशों को आवृत करने वाले कर्म, जिस क्रिया से आते हैं, उस तत्त्व को आस्रव कहते हैं। जहाँ आस्रव होता है, वहाँ बन्ध भी होता है, क्योंकि क्रिया से आने वाले कर्म-वर्गणा के पुद्गलों का राग-द्वेष की परिणति से बन्ध होता है। आस्रव एवं बन्ध—शुभ और अशुभ भावों से शुभाशुभ कर्मों का होता है। शुभ को पुण्य कहते हैं और अशुभ को पाप। अतः आस्रव, बन्ध,

पुण्य एवं पाप—चारों तत्त्व जीव और अजीव के संयोग से बने हैं। संवर का अर्थ है—आस्रव से आने वाले कर्म-प्रवाह को रोकना, कर्मों का आत्मा के साथ संयोग नहीं होने देना। कर्म-वर्गणा के पुद्गलों को एकदेश से हटाने वाले तत्त्व को निर्जरा कहते हैं। आत्मा पर लगे हुए समस्त कर्म वर्गणा के पुद्गलों को हटा देने वाले तत्त्व को मोक्ष कहते हैं। साधना की अपेक्षा ये नव तत्त्व कहे हैं।

चार निक्षेप

निक्षेप के बिना शब्द का यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता। निक्षेप की परिभाषा और व्याख्या को बिना समझे वस्तु का भी परिबोध नहीं होता। निक्षेप शब्द का अर्थ है—न्यास करना, रखना, शब्द को किसी अर्थ में रखना। आगम में कहा गया है कि पदार्थों के जितने निक्षेप हो सकें, उतने ही करने चाहिए। यदि विशेष निक्षेप करने की शक्ति न हो, तो चार निक्षेप अवश्य करने चाहिए। निक्षेप के चार भेद इस प्रकार होते हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

१. **नाम निक्षेप**—लोक व्यवहार चलाने के लिए, किसी दूसरे गुण एवं क्रिया आदि निमित्त की अपेक्षा न रखकर, किसी पदार्थ की संज्ञा रख देना, नाम निक्षेप है। जैसे किसी का नाम महावीर रख देना। नाम निक्षेप गुण की अपेक्षा नहीं करता।

२. **स्थापना निक्षेप**—प्रतिपाद्य वस्तु के सदृश अथवा विसदृश आकार वाली वस्तु में, प्रतिपाद्य वस्तु की स्थापना करना, स्थापना निक्षेप है। जैसे जम्बूद्वीप के चित्र को जम्बूद्वीप कहना। तीर्थंकर की मूर्ति को तीर्थंकर कहना। स्थापना के दो भेद हैं—तदाकार और अतदाकार।

३. **द्रव्य निक्षेप**—किसी पदार्थ की भूत एवं भविष्यकालीन पर्याय के नाम का वर्तमान काल में व्यवहार करना, द्रव्य निक्षेप है। जैसे राजा के मृतक शरीर में, "यह राजा है" इस प्रकार भूतकालीन राजा पर्याय का व्यवहार करना। भविष्य में राजा होने वाले युवराज को राजा कहना।

शास्त्र का ज्ञाता, जब उस शास्त्र के उपयोग से शून्य होता है, तब उसका ज्ञान, द्रव्यज्ञान कहा जाता है। अनुपयोगो द्रव्यमिति वचनात्।' अर्थात् उपयोग न होना द्रव्य है।

४. **भाव निक्षेप**—पर्याय के अनुसार वस्तु में, शब्द का प्रयोग करना, भाव निक्षेप है। जैसे राज्य शासन करते हुए राजा को राजा कहना। शास्त्र के उपयोग वाले को शास्त्र का ज्ञाता कहना।

लक्षण की परिभाषा

अनेक प्रकार के मिश्रित पदार्थों में से किसी एक पदार्थ को अगले एवं पिछले पदार्थों से पृथक् करने वाले को लक्षण कहा गया है। उसके दो भेद हैं—आत्मभूत और अनात्मभूत।

१. **आत्म-भूत लक्षण**—जो लक्षण वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ हो, उसे आत्मभूत लक्षण कहा गया है। जैसे अग्नि का लक्षण उष्णता और जीव का लक्षण चैतन्य कहा जाता है।

२. **अनात्मभूत लक्षण**—जो लक्षण वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ न हो, उसको अनात्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे दण्डी पुरुष का लक्षण दण्ड। यहाँ दण्ड, पुरुष से अलग है। फिर भी वह दण्डी को अन्य पुरुषों से अलग करके उसकी पहचान करा ही देता है। लक्ष्य का ज्ञान, लक्षण से ही किया जा सकता है।

लक्षणाभास

सदोष लक्षण को लक्षणाभास कहा गया है। लक्षणाभास के तीन भेद हैं—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव। जैसे कि कहा है—

१. **अव्याप्ति**—लक्ष्य के एकदेश में लक्षण के रहने को अव्याप्ति दोष कहते हैं। जैसे पशु का लक्षण सींग कहना। समस्त पशुओं में सींग नहीं होते। जीव का लक्षण पञ्चेन्द्रियत्व को कहना। जीवत्व एकेन्द्रिय में भी होता है।

२. **अतिव्याप्ति**—लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में, लक्षण के रहने को अतिव्याप्ति दोष कहते हैं। जैसे गाय का लक्षण सींग। लक्ष्य गाय में सींग है, लेकिन अलक्ष्य भैंस में भी सींग है।

३. **असम्भव**—लक्ष्य मात्र में कहीं पर भी लक्षण के सम्भव न होने को असम्भव दोष कहते हैं। जैसे अग्नि का लक्षण शीतलता।

वस्तु के स्व-पर चतुष्टय

जैन दर्शन, अनेकान्त दर्शन है। इसके अनुसार वस्तु में अनेक धर्म रहते हैं। अपेक्षाभेद से परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों का भी एक ही वस्तु में सामञ्जस्य होता है, समन्वय किया जाता है। जैसे अस्ति और नास्ति। जैसे घट पदार्थ स्वचतुष्टय की अपेक्षा, अस्ति धर्म वाला है, और पर-चतुष्टय की अपेक्षा, नास्ति धर्म वाला है। प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा है, और परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा नहीं है।

१. **द्रव्य**—गुणों के समूह को द्रव्य कहा जाता है। जैसे जड़ता आदि घट के गुणों के समूह रूप से घट है। परन्तु चैतन्य आदि जीव के गुणों के समूह रूप से घट नहीं है।

२. **क्षेत्र**—निश्चय से द्रव्य के प्रदेशों को क्षेत्र कहते हैं। जैसे घट के प्रदेश घट का क्षेत्र है। जीव के प्रदेश जीव का क्षेत्र है। घट अपने प्रदेशों में रहता है। जीव के क्षेत्र की अपेक्षा से वह असत् है। यही स्थिति जीव की है।

३. **काल**—वस्तु के परिणमन को काल कहते हैं। जैसे घट स्वकाल से वसन्त ऋतु का है और शिशिर ऋतु का नहीं है।

४. **भाव**—वस्तु के गुण अथवा स्वभाव को भाव कहते हैं। जैसे घट स्वभाव की अपेक्षा से जल धारण स्वभाव वाला है। परन्तु पट की भाँति आवरण स्वभाव वाला नहीं है। घटत्व की अपेक्षा सद्‌रूप है, एवं पटत्व की अपेक्षा असद्‌रूप है।

परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक धर्मों का समन्वय, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, नयवाद और सप्तभंगीवाद है। जैन दर्शन के ये चारों मुख्य सिद्धान्त हैं। चारों एक-दूसरे के पूरक हैं। अनेकान्तवाद एक दृष्टि है। उसे अभिव्यक्त करने वाली भाषा स्याद्वाद है। अन्य दर्शनों ने इसका घोर विरोध तो किया है, लेकिन प्रकारान्तर से इसको स्वीकार भी किया है। बौद्ध दर्शन का विभज्यवाद और वेदान्त का समन्वयवाद, वस्तुतः अनेकान्त और स्याद्वाद की ही स्वीकृति है।

स्याद्वाद और अनेकान्तवाद

पीछे नयों पर विचार किया गया था। नय की परिभाषा, नय की व्याख्या और नयों के भेद-प्रभेदों पर भी विचार किया गया था। जैन दर्शन में, नयों का बड़ा महत्व है। क्योंकि नय और सप्तभंग, अनेकान्त और स्याद्वाद के आधार हैं। नय सप्त हैं और भंग भी सप्त हैं। जो नय परस्पर सापेक्ष हैं, वे सुनय कहे जाते हैं। जो नय परस्पर निरपेक्ष हैं, वे दुर्नय कहे जाते हैं। नयों का सापेक्ष कथन ही जैन दर्शन होता है। जिस प्रकार समस्त सरिताएँ सागर में समा जाती हैं। किन्तु सागर सरिताओं में नहीं समाता, उसी प्रकार समस्त वादियों के सिद्धान्त जैन-दर्शन में समाहित हो जाते हैं, परन्तु किसी भी वादी का सिद्धान्त जैन दर्शन नहीं होता।

सप्तभंगी

जब एक वस्तु के किसी एक धर्म के विषय में प्रश्न करने पर विरोध

का परिहार करके, व्यस्त और समस्त, विधि और निषेध की कल्पना की जाती है, तब सात प्रकार के वाक्यों का प्रयोग होता है, जो स्यात्कार से युक्त होता है। उस सप्त प्रकार के वाक्य प्रयोग को सप्तभंगी कहा जाता है। भंग शब्द का अर्थ है—विकल्प। सात प्रकार के विकल्पों को सप्त भंग कहते हैं। सप्त प्रकार के भंगों का कथन इस प्रकार किया जाता है—

१. स्यात् अस्ति
२. स्यात् नास्ति
३. स्यात् अस्ति नास्ति
४. स्यात् अवक्तव्य
५. स्यात् अस्ति अवक्तव्य
६. स्यात् नास्ति अवक्तव्य
७. स्यात् अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य

अर्थ का कथन—

१. है,
२. नहीं है,
३. है, और नहीं है,
४. कहा नहीं जा सकता,
५. है, कहा नहीं जा सकता,
६. नहीं है, कहा नहीं जा सकता,
७. है, नहीं है, कहा नहीं जा सकता,

वस्तु के विषयभूत अस्तित्व आदि प्रत्येक पर्याय के धर्मों के सात प्रकार के ही होने से व्यस्त और समस्त, विधि-निषेध की कल्पना से सात ही प्रकार के सन्देह उत्पन्न होते हैं। अतः वस्तु के विषय में, सात ही प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न होने के कारण उसके विषय में सात ही प्रकार के प्रश्न उत्पन्न हो सकते हैं और उनका उत्तर इस प्रकार के वाक्यों द्वारा दिया जाता है।

भंगों का विकास

मूल भंग दो हैं—अस्ति और नास्ति। दोनों की युगपत् विवक्षा से अवक्तव्य नाम का भंग बनता है। यह भी मूल भंग कहा जाता है। अतः मूल भंग तीन हैं—अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य। इन तीनों के असंयोगी भंग इस प्रकार हैं—अस्ति, नास्ति एवं अवक्तव्य। द्विसंयोगी भंग इस प्रकार

हैं—अस्ति नास्ति, अस्ति अवक्तव्य एवं नास्ति अवक्तव्य। त्रिसंयोगी भंग यह है—अस्ति, नस्ति, अवक्तव्य।

अनेकान्त दृष्टि

अनेकान्त का अर्थ है—अनेक धर्म। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म होते हैं। अतएव वह अनेकान्तात्मक कही जाती है। यदि चारों दिशाओं से हिमगिरि के फोटो लिए जाएँ, तो सब फोटो एक जैसे नहीं होंगे, फिर भी वे सब फोटो हिमगिरि के ही होंगे। अनेक दृष्टियों से एक ही वस्तु अनेक रूपों में नजर आती है। आम के फल को कटहल की अपेक्षा छोटा और बेर की अपेक्षा बड़ा कहा जाता है। अपेक्षाभेद से एक ही वस्तु छोटी-बड़ी हो सकती है। एक ही व्यक्ति अपेक्षाभेद से पिता, पुत्र, पौत्र, भ्राता, पति, मातुल और श्यालक आदि हो सकता है। किसी भी प्रकार का विरोध नहीं आता। एक ही मनुष्य अपेक्षाभेद से अध्यापक, सेवक और स्वामी आदि हो सकता है। बस, यही बात अनेकान्त के विषय में भी है। एक ही वस्तु को अपेक्षाभेद से है, नहीं है, तथा अवक्तव्य भी कहा जा सकता है।

जो पुस्तक कमरे में है, वह पुस्तक कमरे के बाहर नहीं है। यहाँ पर है, और नहीं में किसी प्रकार का विरोध नहीं आता। यह अविरोध अनेकान्त दृष्टि का फल है। शीत और उष्ण स्पर्श के समान, अस्ति और नास्ति में विरोध नहीं हो सकता। क्योंकि विरोध तभी कहा जा सकता है, जबकि एक ही काल में एक ही स्थान पर, दोनों धर्म एकत्रित होकर न रहें, लेकिन स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व और पर-चतुष्टय की अपेक्षा नास्तित्व, रह सकते हैं। यहाँ किसी प्रकार का विरोध नहीं है। विरोध कब होता है, जबकि स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्ति, और स्वचतुष्टय की अपेक्षा ही नास्ति कहा जाए। उस स्थिति में विरोध कहा जा सकता है। लेकिन अपेक्षाभेद से दोनों में, विरोध नहीं होता है।

स्याद्वाद और सप्तभंगी

स्वचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु अस्ति रूप है, और पर-चतुष्टय की अपेक्षा नास्ति रूप है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का कथन सरलता से द्रव्य में, अस्ति एवं नास्ति समझाने के लिए है। स्व-रूप में वस्तु है, और पर-रूप से नहीं है। स्व-रूप को स्वात्मा और पर-रूप को परात्मा कहते हैं।

जब वस्तु के स्व-रूप की अपेक्षा होती है, तब अस्ति कहते हैं, और जब पर-रूप की अपेक्षा होती है, तब नास्ति कहते हैं। यह प्रथम और

द्वितीय भंग है। जब स्वरूप और पररूप उभय की अपेक्षा होती है, तब अस्ति-नास्ति कहते हैं। यह तीसरा भंग कहा जाता है।

अस्ति और नास्ति को एक समय में नहीं कहा जा सकता। जब अस्ति कहते हैं, तब नास्ति भंग रह जाता है। जब नास्ति कहते हैं, तब अस्ति भंग रह जाता है। जब क्रम से अस्ति-नास्ति कहते हैं, तब अस्ति-नास्ति, यह तीसरा भंग बन जाता है। परन्तु जब एक ही समय में अस्ति-नास्ति कहते हैं, तब अवक्तव्य नाम का चतुर्थ भंग बनता है। इस प्रकार क्रम से स्वरूप की अपेक्षा "अस्ति-नास्ति" और युगपत् स्वरूप की अपेक्षा "अवक्तव्य" भंग होता है।

जब वस्तु स्वरूप की अपेक्षा अस्ति होने पर भी अवक्तव्य है, पर स्वरूप की अपेक्षा नास्ति होने पर भी अवक्तव्य है तथा क्रम से स्वरूप एवं पररूप की अपेक्षा अस्ति-नास्ति होने पर भी अवक्तव्य है, तब तीन भंग और बन जाते हैं—अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य और अस्ति-नास्ति अवक्तव्य। यह पाँचवाँ, छठा और सातवाँ भंग बन जाता है। यह सप्तभंगी है, इसको स्याद्वाद कहा जाता है।

नयवाद, अनेकान्तवाद, सप्तभंगीवाद और स्याद्वाद—ये चारों सिद्धान्त जैन दर्शन के आधारभूत हैं, प्राण तत्त्व हैं तथा विशेष सिद्धान्त हैं। इनका परिपूर्ण प्रबोध, प्रमाण के बिना नहीं हो सकता। अतः प्रमाणवाद को समझना आवश्यक है।

प्रमाणवाद

जैन परम्परा में, पाँच ज्ञानों की चर्चा भगवान् महावीर से पूर्व भी थी। इसका प्रमाण राजप्रश्नीय सूत्र में है। भगवान् महावीर ने अपने मुख से अतीत में होने वाले केशीकुमार श्रमण का वृत्तान्त राजप्रश्नीय में कहा है। केशीकुमार ने राजा प्रदेशी को कहा है कि हम श्रमण लोग पाँच प्रकार का ज्ञान मानते हैं जैसे कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल।

आगमों में, पाँच ज्ञानों के भेद—प्रभेदों का जो वर्णन है, कर्मशास्त्र में ज्ञानावरण के भेदों का जो वर्णन है, मार्गणा स्थानों में जो ज्ञान मार्गणा का वर्णन है, और ज्ञानप्रवाद पूर्व में जो वर्णन किया गया है, इन सबसे यही फलित होता है, कि पाँच ज्ञान की चर्चा भगवान महावीर से पूर्व की है। इस ज्ञान चर्चा के विकास-क्रम को आगम के आधार पर देखना हो, तो उसे तीन भूमिकाओं में समझना चाहिए।

१. प्रथम भूमिका में, ज्ञानों को पाँच भेदों में ही विभक्त किया गया है।

२. द्वितीय भूमिका में ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष, दो भेदों में विभक्त करके पाँच ज्ञानों में से मति और श्रुत को परोक्ष कहा गया और शेष तीनों को प्रत्यक्ष कहा गया। इस भूमिका में लोक का अनुसरण करके इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को, इन्द्रियज मति को प्रत्यक्ष में स्थान नहीं दिया, परन्तु जैन सिद्धान्त के अनुसार जो ज्ञान आत्म-मात्र-सापेक्ष है, उसको प्रत्यक्ष में स्थान दिया।

३. तृतीय भूमिका में इन्द्रियजन्य ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष, उभय में ही स्थान दिया गया है। इस भूमिका में, लोक का अनुगमन स्पष्ट नजर पड़ता है, लोक का प्रभाव है।

प्रथम भूमिका के अनुसार ज्ञान का वर्णन हमें भगवती-सूत्र में उपलब्ध होता है। स्थानांग सूत्र में, ज्ञान की परिचर्या द्वितीय भूमिका की कही जा सकती है। इसी भूमिका के आधार पर उमास्वाति ने भी प्रमाणों को प्रत्यक्ष और परोक्ष में विभक्त करके दो में पाँच ज्ञानों का समावेश कर दिया है। तृतीय भूमिका नन्दीसूत्रगत ज्ञान-चर्चा में अभिव्यक्त हो जाती है। अन्य सभी दर्शनों ने इन्द्रिय ज्ञानों को परोक्ष नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष माना है। उनको प्रत्यक्ष में स्थान देकर उस लोक मत का समन्वय करना भी नन्दीकार को अभीष्ट था। आचार्य जिनभद्र ने इस समन्वय को लक्ष्य में रखकर ही कहा, कि वस्तुतः इन्द्रियज प्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहना चाहिए। लोकव्यवहार के अनुरोध से ही इन्द्रियज मति को प्रत्यक्ष कहा गया है। वस्तुतः वह परोक्ष ही है। जैन दर्शन के आचार्यों ने आगम काल से प्रमाण की चर्चा को महत्व दिया था, और आगम की मान्यता का भी परित्याग नहीं किया। व्यवस्था इस प्रकार है—

१. अवधि, मनःपर्याय और केवल पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं।

२. श्रुत परोक्ष ही है।

३. इन्द्रियजन्य मतिज्ञान पारमार्थिक दृष्टि से परोक्ष है, और व्यवहार दृष्टि से प्रत्यक्ष है।

४. मनोजन्य मतिज्ञान परोक्ष ही है।

आचार्य अकलंक ने तथा उनके अनुगामी अन्य जैन आचार्यों ने प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक और पारमार्थिक, जो दो भेद किये हैं,

यह उनकी नई सूझ नहीं कही जा सकती। क्योंकि उसका मूल नन्दीसूत्र, और उसके जिनभद्रकृत स्पष्टीकरण में विद्यमान है।

अनुयोगद्वार सूत्र

पीछे कहा जा चुका है, कि अनुयोगद्वार में, प्रमाण शब्द को उसके विस्तृत अर्थ में लेकर प्रमाणों का भेद वर्णन किया गया है। यहाँ पर अनुयोगद्वार सम्मत चार प्रमाणों का वर्णन है। उनमें से प्रत्यक्ष प्रमाण का वर्णन इस प्रकार है—

१. इन्द्रिय प्रत्यक्ष

२. नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष

इन्द्रिय प्रत्यक्ष में—श्रोत्र प्रत्यक्ष, नेत्र प्रत्यक्ष, घ्राण प्रत्यक्ष, रसना प्रत्यक्ष और त्वचा प्रत्यक्ष—इन पाँच प्रकार के प्रत्यक्षों का समावेश किया गया है।

नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण में जैन शास्त्र में प्रसिद्ध तीन प्रत्यक्ष ज्ञानों का समावेश है—अवधि, मनःपर्याय और केवल।

प्रमाण के भेद

अनुयोगद्वार सूत्र में, प्रमाण के सीधे चार भेद भी उपलब्ध होते हैं। जैसे कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम।

प्रमाण भेद के विषय में प्राचीनकाल में, अनेक परम्परा प्रसिद्ध रही हैं। उनमें से चार और तीन भेदों का निर्देश आगम में भी मिलता है। नैयायिकों ने प्रमाण के चार भेद ही माने हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं आगम।

तत्त्वार्थ सूत्र

वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में विस्तार के साथ पाँच ज्ञानों का वर्णन किया है। ज्ञानों को दो प्रमाणों में विभक्त किया है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। मति और श्रुत—परोक्ष प्रमाण हैं। अवधि, मनःपर्याय एवं केवल प्रत्यक्ष हैं।

प्रवचनसार

आचार्य कुन्दकुन्द ने उमास्वाति की भाँति प्राचीन आगमों की व्यवस्था के अनुसार ही ज्ञानों को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष माना है। आचार्य का कथन है, कि दूसरे दार्शनिक इन्द्रियजन्य ज्ञानों को प्रत्यक्ष मानते हैं, किन्तु वह प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? क्योंकि इन्द्रिय तो अनात्म रूप होने से पर-

द्रव्य हैं। इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इन्द्रियजन्य ज्ञान के लिए परोक्ष शब्द ही उपयुक्त होता है, क्योंकि पर से होने वाला ज्ञान परोक्ष ही होता है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर

जैन न्याय-शास्त्र की आधार-शिला रखने वाले आचार्य सिद्धसेन हैं। जैसे दिङ्नाग ने बौद्धसम्मत विज्ञानवाद और एकान्त क्षणिकता को सिद्ध करने के लिए पूर्व परम्परा में थोड़ा-बहुत परिवर्तन करके बौद्ध प्रमाण-शास्त्र को व्यवस्थित रूप दिया, उसी प्रकार सिद्धसेन ने भी न्याया-वतार में, जैन न्याय-शास्त्र की नींव न्यायावतार की रचना करके रखी। सिद्धसेन ने न्यायावतार में पूर्व परम्परा का अनुकरण न करके अपनी स्वतन्त्र बुद्धि तथा अपनी प्रतिभा से काम लिया। सिद्धसेन ने जैन दृष्टि-कोण को अपने सामने रखते हुए भी लक्षण रचना में दिङ्नाग के ग्रन्थों का पर्याप्त मात्रा में उपयोग किया है, और स्वयं सिद्धसेन के लक्षणों का उप-योग अनुगामी जैनाचार्यों ने अत्यधिक मात्रा में किया है, यह बात स्पष्ट है।

आचार्य सिद्धसेन ने भी प्रमाण तो दो ही माने—प्रत्यक्ष और परोक्ष। लेकिन उनमें जैन परम्परा अनुगत पांच ज्ञानों की मुख्यता नहीं, लोकसम्मत प्रमाणों की मुख्यता है। उन्होंने प्रत्यक्ष की व्याख्या में लौकिक तथा लोकोत्तर दोनों प्रत्यक्षों का समावेश कर लिया है। परोक्ष में अनु-मान और आगम का। इस प्रकार आचार्य ने आगम में मुख्य रूप में कथित चार प्रमाणों का नहीं, अपितु प्रमाण के तीन भेद स्वीकार किए हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। सांख्य और योग भी उक्त तीन प्रमाण मानते हैं।

न्याय-शास्त्र एवं प्रमाण-शास्त्र में, दार्शनिकों ने प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति—इन चार तत्वों को प्रधानता दी है। आचार्य सिद्धसेन ही प्रथम जैन तार्किक हैं, जिन्होंने न्यायावतार में, इन चारों की व्याख्या की है। प्रमाण का लक्षण किया है। उसके भेद-प्रभेद किए हैं। नयों का लक्षण और विषय बताकर, जैन न्याय-शास्त्र की गहरी एवं स्थिर नींव डाली है। आचार्य ने अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु लक्षण की रचना की, जो आज तक सभी जैन नैयायिकों द्वारा प्रमाणभूत माना जाता है, सबने उन्हीं का अनुकरण तथा अनुसरण किया है। सन्मति तर्क में, आचार्य ने अनेका-न्तवाद का जोरदार मण्डन किया है, और विरोध का खण्डन किया है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर जैन न्याय-शास्त्र तथा तर्क-शास्त्र के पिता माने जाते हैं। न्यायशास्त्र एवं प्रमाणवाद को उन्होंने नयी दिशा दी है। जैन न्यायशास्त्र के तो वे जनक ही हैं। लेकिन उन्होंने अनेकान्तवाद की स्थापना करके जैन दर्शन को एक ठोस आधार प्रदान किया। प्रमाण के क्षेत्र में नयी दिशा देकर उन्होंने नयों की भी अत्यन्त गहन-गम्भीर मीमांसा की है। उन्होंने नैगम नय का अन्तर्भाव संग्रह एवं व्यवहार में कर दिया।

तर्क-युग में प्रमाण

प्रमाण के सम्बन्ध में चार बातों पर विचार किया गया है—प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण की संख्या, प्रमाण का विषय और प्रमाण का फल। इस युग में ज्ञान गौण हो गया, और प्रमाण मुख्य। हर बात को प्रमाण की कसौटी पर कसा जाने लगा। आत्मा, परमात्मा, मोक्ष तथा परलोक को भी बिना प्रमाण के मानने से इन्कार कर दिया गया। प्रमाण में भी अनुमान प्रमाण का अतिशय महत्व बढ़ गया। प्रत्यक्ष की वस्तु को भी अनुमान का विषय बनाया गया।

प्रमाण की परिभाषा

प्रमाण का लक्षण करने वाले सर्वप्रथम आचार्य सिद्धसेन दिवाकर हैं। प्रमाण का लक्षण इस प्रकार हैं—"प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।" बाधरहित, स्व तथा पर को प्रकाशित करने वाला जो ज्ञान, वह प्रमाण होता है। बाधरहित का अर्थ है—संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय से रहित।

माणिक्यनन्दी

आचार्य माणिक्यनन्दी ने प्रमाण का लक्षण किया है—'वही ज्ञान प्रमाण है, जो स्व का और अपूर्व अर्थ का निर्णय करता है। ज्ञान अपने को भी जानता है, और बाह्य अर्थ को भी जानता है। अर्थ-ज्ञान में भी पिष्टपेषण न हो, कुछ नूतनता हो। अतः अर्थ का अपूर्व विशेषण है।

वादिदेव सूरि

आचार्य वादिदेव सूरि ने प्रमाण का लक्षण किया है—"स्व-पर व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।" स्व और पर का निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण है। अपूर्व विशेषण हटा दिया गया। जो ज्ञान निश्चयस्वरूप है, वह प्रमाण है।

आचार्य हेमचन्द्र

आचार्य ने अपनी प्रमाण-मीमांसा में प्रमाण का लक्षण दिया है—'सम्यग् अर्थनिर्णयः प्रमाणम् ।' अर्थ का सम्यक् निर्णय प्रमाण है । यहाँ पर स्व एवं पर को हटा दिया है । क्योंकि अर्थ का निर्णय स्वनिर्णय के अभाव में नहीं हो सकता । जब स्वनिर्णय होता है, तभी अर्थ निर्णय होता है । अतः आचार्य ने स्वनिर्णय विशेषण का प्रयोग नहीं किया ।

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान और प्रमाण में अभेद है । ज्ञान का अर्थ, सम्यग्ज्ञान है, न कि मिथ्याज्ञान । जैन दर्शन में ज्ञान को स्व-पर प्रकाशक माना गया है । निश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है । निश्चयात्मक का अर्थ है—सविकल्पक । निश्चयात्मक, व्यवसायात्मक, निर्णयात्मक और सविकल्पक हो, वही ज्ञान प्रमाण हो सकता है ।

"सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् ।" यह भी प्रमाण का लक्षण है । अन्य आचार्यों ने अन्य प्रकार से भी लक्षण किए हैं । लेकिन प्रमाण बनने के लिए ज्ञान का होना आवश्यक है ।

प्रमाण का प्रमाणत्व

जैन तार्किक कहते हैं, कि प्रमाण के प्रमाणत्व का निश्चय कहीं पर स्वतः और कहीं पर परतः होता है । अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः होता है ।

मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी हैं । नैयायिक परतः प्रामाण्यवादी हैं । सांख्यों की मान्यता है, कि प्रमाणत्व तथा अप्रमाणत्व दोनों स्वतः होते हैं ।

प्रमाण का फल

प्रमाण का मुख्य प्रयोजन अर्थ-प्रकाश है । प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान का नाश है । केवलज्ञान के लिए उसका सुख और उपेक्षा है । शेष ज्ञानों के लिए ग्रहण और त्याग बुद्धि है । सामान्य दृष्टि से प्रमाण का फल यही है, कि अज्ञान नहीं रहने पाता । जैसे सूर्य के उदय से अन्धकार का नाश हो जाता है, उसी प्रकार प्रमाण से अज्ञान का विनाश हो जाता है ।

प्रमाण के भेद

जैन दर्शन मुख्य रूप से प्रमाण के दो भेद मानता है—प्रत्यक्ष और परोक्ष । बौद्ध भी प्रमाण के दो भेद करते हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान । जैन दर्शन के अनुसार अनुमान परोक्ष का भेद है । अतः बौद्ध दर्शन का प्रमाण

विभाजन अपूर्ण है। चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण स्वीकार करता है।

वैशेषिक और सांख्य तीन प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम अथवा शब्द। नैयायिक चार प्रमाण स्वीकार करते हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। आचार्य सिद्धसेन ने भी तीन प्रमाण माने हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। अनुयोगद्वार सूत्र में भी चार प्रमाण की मान्यता रही है- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम।

मीमांसा दर्शन की एक शाखा के आचार्य प्राभाकर पाँच प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम और अर्थापत्ति। मीमांसा दर्शन की द्वितीय शाखा के आचार्य भाट्ट छह प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव। प्रमाण की संख्या सबकी भिन्न-भिन्न रही है। सबकी मान्यता अलग-अलग है।

जैन न्याय के आचार्यों ने दो ही प्रमाण स्वीकार किए हैं। प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। जैनदर्शनसम्मत दो प्रमाणों में ये सब प्रमाण समा जाते हैं। जैन परम्परा के आचार्यों ने प्रत्यक्ष के दो भेद माने हैं। परोक्ष के पाँच भेद माने हैं।

भारतीय दर्शनों में प्रमाण के स्वरूप और प्रमाण की संख्या के विषय पर बहुत ही मतभेद रहे हैं। लेकिन प्रमाण को सभी ने स्वीकार किया है, और उसकी व्याख्या की है।

प्रत्यक्ष और परोक्ष

जैन न्याय के आचार्यों ने प्रमाण के दो भेद किए हैं। दो भेदों में अन्य सभी प्रमाणों का समावेश कर लिया गया है। इनकी व्याख्या उन्होंने विस्तृत अर्थ में की है। पांच ज्ञानों का समावेश भी दो भेदों में कर लिया। प्रत्यक्ष शब्द में जो अक्ष पद है, उसके दो अर्थ हैं—अक्ष अर्थात् जीव एवं आत्मा, और अक्ष अर्थात् इन्द्रियाँ एवं मन। इस आधार पर उन्होंने प्रत्यक्ष के दो भेद कर लिए हैं—सीधा आत्मा से होने वाला ज्ञान, और इन्द्रिय तथा मन के निमित्त से होने वाला ज्ञान। प्रत्यक्ष के दो भेद हैं, और परोक्ष प्रमाण के पांच भेद हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण

जैन तार्किकों ने प्रत्यक्ष का दो दृष्टियों से प्रतिपादन किया—एक लोकोत्तर अथवा पारमार्थिक दृष्टि है, और दूसरी लौकिक अथवा व्यावहारिक दृष्टि है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—सकल एवं विकल।

सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान है। विकल प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान। सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष के चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

परोक्ष प्रमाण

जो ज्ञान अविशद अथवा अस्पष्ट है, वह परोक्ष है। परोक्ष प्रमाण, प्रत्यक्ष से ठीक विपरीत होता है। परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं—स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम अथवा शब्द प्रमाण। उनका स्वरूप इस प्रकार से है—

१. **स्मरण**—वासना एवं संस्कार के उद्‌बोधन से उत्पन्न होने वाला, 'वह' इस आकार वाला, जो ज्ञान है, वह स्मरण एवं स्मृति है। संस्कार का जागरण कैसे होता है? स्मृति, अतीत के अनुभव का स्मरण होना है। समानता एवं विरोध आदि अनेक कारणों से वासना का उद्‌बोधन हो सकता है। क्योंकि स्मृति अतीत के अनुभव का स्मरण है, अतएव 'वह' इस प्रकार का ज्ञान स्मरण की विशेषता है। भारतीय दर्शनों में, एक जैन दर्शन ही ऐसा दर्शन है, जो स्मृति को प्रमाण रूप में स्वीकार करता है।

२. **प्रत्यभिज्ञान**—दर्शन और स्मरण से उत्पन्न होने वाला, 'यह वही है' यह उसके समान है, यह उससे विलक्षण है, यह उसका प्रतियोगी है, आदि रूप वाला, संकलनात्मक जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यभिज्ञान कहा गया है। प्रत्यभिज्ञान में, दो प्रकार के अनुभव होते हैं, एक प्रत्यक्ष दर्शन, जो वर्तमान काल में रहता है, और दूसरा स्मरण, जो भूतकाल का अनुभव होता है। जिस ज्ञान में, प्रत्यक्ष और स्मृति, इन दोनों का संकलन होता है, वह ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है। 'यह घट, उस घट के समान है' यह सादृश्यविषयक ज्ञान है, इसको अन्य दर्शनों में उपमान कहा गया है।

३. **तर्क**—उपलम्भ-अनुपलम्भ निमित्त व्याप्ति ज्ञान, तर्क होता है। इसका दूसरा नाम ऊह भी कहा जाता है। उपलम्भ का अर्थ है—लिंग के सद्‌भाव से साध्य के सद्‌भाव का ज्ञान। धूम लिंग है, और अग्नि साध्य है। धूम के सद्‌भाव के ज्ञान से अग्नि के सद्‌भाव का ज्ञान करना, उपलम्भ है। अनुपलम्भ का अर्थ है—साध्य के असद्‌भाव से लिंग के असद्‌भाव का ज्ञान। 'जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ धूम भी नहीं हो सकता।' इस प्रकार का निर्णय अनुपलम्भ कहा जाता है। उपलम्भ और अनुपलम्भ रूप जो व्याप्ति है, उससे उत्पन्न होने वाला ज्ञान, तर्क कहा गया है।

४. **अनुमान**—साधन से साध्य का ज्ञान होना, अनुमान है। साधन का अर्थ है—हेतु या लिंग। साधन को देखकर तद् अविनाभावि साध्य का ज्ञान करना अनुमान होता है। धूम, जो कि अग्नि का साधन है, उसे देखकर अग्नि, जो कि साध्य है, उसका ज्ञान अनुमान है। साधन और साध्य के मध्य अविनाभाव सम्बन्ध होना, परम आवश्यक है। अविनाभाव का अर्थ है—किसी के बिना न होना। धूम, अग्नि के बिना नहीं हो सकता। धूम के होने पर अग्नि का होना, यह अविनाभाव सम्बन्ध होता है। अनुमान दो प्रकार का है—स्वार्थानुमान और दूसरा परार्थानुमान, कहा गया है।

५. **आगम**—आप्त-पुरुष के वचन से आविर्भूत होने वाला, अर्थ-संवेदन, आगम कहा जाता है। आप्त पुरुष का अर्थ है—तत्त्व को यथावस्थित जानने वाला और तत्व का यथावस्थित कथन करने वाला। राग-द्वेष से शून्य पुरुष ही आप्त हो सकता है। क्योंकि वह मिथ्यावादी नहीं हो सकता। आप्त पुरुष की वाणी से होने वाला ज्ञान, आगम कहा जाता है। उपचार से आप्त के वचनों का संग्रह भी आगम है। लौकिक और लोकोत्तर के भेद से आप्त दो प्रकार के होते हैं—साधारण व्यक्ति लौकिक आप्त हो सकते हैं। लोकोत्तर आप्त पुरुष तो एकमात्र तीर्थंकर देव ही हो सकते हैं।

जैन दार्शनिक ग्रन्थों की रचना का काल तत्त्वार्थ सूत्र से प्रारम्भ होता है। इसमें प्रमेय की प्रधानता है, प्रमाण की गौणता। आगे चलकर न्याय प्रधान ग्रन्थों में, प्रमाण की मुख्यता हो चुकी थी। न्यायावतार, न्याय-विनिश्चय, परीक्षा-मुख, प्रमाणनयतत्त्वालोक, प्रमाण-मीमांसा, न्याय-दीपिका और जैन तर्क-भाषा जैसे तर्कप्रधान ग्रन्थों की एक दीर्घ परम्परा चल पड़ी, जिनमें प्रमेय की गौणता और प्रमाण की मुख्यता रही। फिर व्याख्या ग्रंथों की रचना होने लगी। रत्नाकरावतारिका, स्याद्वाद रत्नाकर, प्रमेयकमल-मार्तण्ड और न्यायावतार-वार्तिक-वृत्ति तथा शास्त्र वार्ता समुच्चय जैसे विशालकाय ग्रन्थों की रचना होने लगी। यही प्रमाण-युग कहा जाता है।

तर्क युग में नयाभासों का कथन

जब नय अपने विषय को ग्रहण करके दूसरे नय के विषय का निषेध करता है, तब वह नय न रहकर नयाभास हो जाता है। सम्यक् नय न रहकर, मिथ्या नय हो जाता है, सुनय न रहकर, दुर्नय कहा जाता है।

तर्क युग में, नयाभासों पर गम्भीरता से विचार किया है। जितने प्रकार के नय हैं, उतने ही प्रकार के नयाभासों का कथन, तर्क ग्रन्थों में किया गया है।

द्रव्य मात्र को ग्रहण करने वाला, और पर्याय का निषेध करने वाला, द्रव्यार्थिक नयाभास है। पर्याय मात्र को ग्रहण करने वाला किन्तु द्रव्य का निषेध करने वाला, पर्यायार्थिक नयाभास है। ये दोनों मूल नयाभास हैं।

१ **नैगमाभास**—धर्मी और धर्म, अर्थात् द्रव्य और गुण में, अनेक गुणों में अथवा द्रव्यों में एकान्त भेद स्वीकार करने वाला, **नैगमाभास**। जैसे नैयायिक और वैशेषिक दर्शन।

२. **संग्रह नयाभास**—एक मात्र सत्ता को अंगीकार करने वाला और समस्त विशेषों का निषेध करने वाला, संग्रह नयाभास है। जैसे समस्त अद्वैतवादी दर्शन और साँख्य दर्शन।

३. **व्यवहार नयाभास**—द्रव्य और पर्याय का अवास्तविक भेद स्वीकार करने वाला नय, व्यवहार नयाभास है। जैसे चार्वाक दर्शन। यह दर्शन प्रमाण से सिद्ध जीव द्रव्य और पर्याय आदि के भेद को काल्पनिक कहकर, अस्वीकार करता है, और स्थूल लोक व्यवहार का अनुयायी होने से भूतचतुष्टय का विकार मात्र स्वीकार करता है।

४. **ऋजुसूत्र नयाभास**—केवल वर्तमान पर्याय को स्वीकार करने वाला और त्रिकालवर्ती द्रव्य का सर्वथा निषेध करने वाला, ऋजुसूत्र नयाभास है, जैसे कि बौद्ध दर्शन।

५. **शब्द नयाभास**—काल आदि के भेद से अर्थ भेद को ही स्वीकार करने वाला और अभेद का निषेध करने वाला, शब्द नयाभास है। जैसे मेरु था, है और रहेगा—शब्द भिन्न अर्थ के ही प्रतिपादक है। क्योंकि वे भिन्न कालवाची शब्द हैं। जो भिन्न कालवाची शब्द होते हैं, वे भिन्नार्थक ही होते हैं, जैसे अगच्छत्, पठति, भविष्यति, आदि शब्द।

६. **समभिरूढ नयाभास**—पर्यायवाचक शब्दों के अर्थ में भिन्नता ही मानने वाला, और अभिन्नता का निषेध करने वाला, समभिरूढ नयाभास है। जैसे कि इन्द्र, शक्र और पुरन्दर आदि शब्दों का अर्थ भिन्न-भिन्न है, क्योंकि वे शब्द भिन्न-भिन्न हैं। जैसे करी, कुरंग आदि शब्द।

७. **एवंभूत नयाभास**—जिस शब्द से जिस क्रिया का बोध होता है, वह क्रिया जब किसी वस्तु में न पाई जाए, तब उस वस्तु के लिए उस

शब्द का प्रयोग नहीं ही करना चाहिए। इस प्रकार मानने वाला और अन्य नयों का निषेध करने वाला, अभिप्राय एवंभूत नयाभास है। जैसे विशिष्ट चेष्टा से शून्य घट वस्तु 'घट' शब्द का वाच्य नहीं है, क्योंकि घट शब्द की प्रवृत्ति निमित्त क्रिया नहीं है। जैसे कि घट शब्द में। प्रवृत्ति निमित्त मुख्य है।

१. **अर्थ नयाभास**—अर्थ का अभिधान करने वाला और शब्द का निषेध करने वाला दृष्टिकोण अर्थ नयाभास कहा गया है।

२. **शब्द नयाभास**—शब्द का अभिधान करने वाला और अर्थ का निषेध करने वाला शब्द नयाभास कहा गया है।

३. अर्पित अर्थात् विशेष को स्वीकार करने वाला और अनर्पित अर्थात् सामान्य का निषेध करने वाला, अर्पित नयाभास है।

४. अनर्पित का विधान करने वाला और अर्पित का निषेध करने वाला अनर्पित नयाभास।

५. **व्यवहार नयाभास**—लोक व्यवहार को अंगीकार करने वाला, और तत्त्व का निषेध करने वाला, व्यवहार नयाभास होता है।

६. **निश्चय नयाभास**—तत्त्व को अंगीकार करके लोक व्यवहार का निषेध करने वाला निश्चय नयाभास कहा जाता है।

७. **ज्ञान नयाभास**—ज्ञान को स्वीकार कर, क्रिया का निषेध करने वाला, ज्ञान नयाभास है।

८. **क्रिया नयाभास**—क्रिया को स्वीकार करके ज्ञान का निषेध करने वाला, क्रिया नयाभास कहा जाता है। जिन शासन में ज्ञान और क्रिया से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

नव्य-न्याय-युग में प्रमाण

जैन दर्शन के विकास क्रम को चार विभागों में विभक्त किया गया है। जिन मनीषी विद्वानों ने यह विभाजन किया है, उन्होंने जैन दर्शन के मर्म को समझ कर ही वैसा किया है। विभाजन तर्कसंगत है, और जैन दर्शन की प्रकृति के अनुकूल भी है। विभाजन की रूप-रेखा इस प्रकार की है, जिसमें विकास क्रम का परिपूर्ण रूप परिलक्षित हो जाता है—

१. **आगम युग**—इसमें मूल आगम तथा उसके उप-विभागों एवं अंगों का समावेश हो जाता है। द्वादश अंग, द्वादश उपांग, छह छेद, चार मूल, दो चूलिका तथा दश प्रकीर्णक। आगम के व्याख्या ग्रन्थ—निर्युक्ति,

भाष्य, चूर्णि और टीका अनुटीका ग्रन्थ। इस युग की परिसमाप्ति, वाचक उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र पर हो जाती है।

२. **अनेकान्त युग**—इसमें अनेकान्तवाद पर, होने वाले आक्षेपों का निराकरण करके, अनेकान्त की विशद व्याख्या की जाने लगी। विरोध का प्रबल खण्डन किया गया। अपने पक्ष की परीक्षा करके अनेकान्तवाद की स्थापना का सफल प्रयास किया गया। इस युग के महान् मनीषी थे—आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, जिन्होंने सन्मति तर्क जैसे ग्रन्थ रत्न की रचना करके, उसमें, न्याय-वैशेषिक दर्शन के ईश्वरवाद एवं परमाणुवाद की समीक्षा की। सांख्य-योग के प्रकृतिवाद एवं पुरुषवाद की समालोचना की। वेदान्त और मीमांसा दर्शन के ब्रह्मवाद, मायावाद तथा यज्ञ-होम कर्म की परीक्षा की। चार्वाक के भौतिकवाद का विरोध एवं निरोध किया। बौद्ध दर्शन के शून्यवाद तथा विज्ञानवाद की विस्तृत समालोचना की। फिर अनेकान्तवाद की गहन गम्भीर व्याख्या करके, स्थापना की। सन्मति तर्क के तृतीय नय-काण्ड में अनेकान्तवाद का सर्वतोमुखी विकास किया। आचार्य ने अपने न्यायावतार ग्रन्थ में, प्रमाण और नय की नयी व्याख्या की। उनके इस कार्य में, आचार्य समन्तभद्र ने भी अपनी कृति आप्त-मीमांसा में, उनका अनुसरण करके, अनेकान्त की स्थापना में अपना पूरा-पूरा सहयोग प्रदान किया।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने प्रमाण और नय की तर्कमूलक जो नयी व्याख्या करके महान् कार्य का प्रारम्भ किया था, उसे आगे बढ़ाया, वादिदेव सूरि ने, स्याद्वाद रत्नाकर की रचना करके। आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी प्रमाण-मीमांसा में, अधिक विशद व्याख्या की। आचार्य मल्लिषेण ने अपनी स्याद्वाद मञ्जरी में स्याद्वाद की सप्त भंगी के द्वारा विस्तृत रूप रखा। वाचक यशोविजय ने अपने अनेक ग्रन्थों में, अनेकान्त और स्याद्वाद की गम्भीर परिचर्चा की है। इस प्रकार आचार्य सिद्धसेन के प्रारम्भ कार्य को उनके अनुगामी आचार्यों ने पूरे वेग से आगे बढ़ाया, और उसमें सफलता प्राप्त की।

३. प्रमाण-युग

इस युग में प्रमेय का विवेचन गौण हो गया और प्रमाण की विवेचना प्रधान। न्यायावतार की रचना के बाद, वादिदेवसूरि ने प्रमाण-नयतत्त्वालोक सूत्रात्मकग्रन्थ रचा, उस पर स्याद्वाद रत्नाकर, उनके शिष्य ने रत्नाकरावतारिका की रचना की। आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण मीमांसा

रची। इसमें सूत्र और विस्तृत वृत्ति रची। प्रमाण शास्त्र पर यह एक महत्वपूर्ण रचना है। अकलंक देव ने सिद्धि विनिश्चय एवं लघीयस्त्रय की रचना की। माणिक्यनन्दि ने परीक्षामुख सूत्रात्मक ग्रन्थ बनाया। प्रमेय कमल मार्तण्ड एवं प्रमेय-रत्न-माला बनी। धर्मभूषण ने न्याय दीपिका जैसे लघु ग्रन्थ की रचना की। अन्य भी अनेक आचार्यों ने प्रमाण विषयक ग्रन्थों की रचना की।

नव्य-न्याय युग

चतुर्थ-युग-नव्य न्याय का कहा जाता है। नव्य न्याय की नव्य भाषा में, वाचक यशोविजय ने प्रमाण और नय पर अनेक ग्रन्थों की रचना की। "जैन तर्क भाषा" उनका अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है, जिसमें प्रमाण, नय और निक्षेप जैसे गम्भीर विषयों पर नव्य न्याय की नूतन शैली में विवेचना की है। नय-रहस्य एवं नय प्रदीप ग्रन्थों में नय तथा सप्त भंगी जैसे ग्रन्थों की रचना की। प्रमाण, नय, सप्त भंगी और निक्षेप आदि पर तर्क भाषा में अत्यन्त सुन्दर शैली से लिखा है। इस युग की एक अन्य रचना, विमलदास ने की है, जिसका नाम है—सप्त भंग तरंगिणी।

नय-निरूपणा

१

नय-निरूपण

जैन दर्शन में, नयों का अपना एक विशेष स्थान माना जाता है। अनेकान्तवाद और स्याद्वाद जैन दर्शन के प्राणभूत सिद्धान्त हैं। अनेकान्त का आधार है, नयवाद। स्याद्वाद का आधार है, सप्तभंगवाद। सप्तनय और सप्तभंगी प्रसिद्ध हैं। जैनदर्शन एकान्तवाद को स्वीकार नहीं करता। क्योंकि वह तो अनेकान्तवादी दर्शन है। अनेकान्तवाद वस्तु के स्वरूप को समझने का एक दृष्टिकोण है। उसे भाषा में अभिव्यक्त करता है, स्याद्वाद। अनेकान्त एक विचार है, उसे भाषा में अभिव्यक्त करना, स्याद्वाद है। अतः सप्तनय और सप्तभंग को समझना, परम आवश्यक है। बिना इनको समझे जैनदर्शन को नहीं समझा जा सकता। इन दोनों सिद्धान्तों के कारण ही जैनदर्शन का अन्य भारतीय दर्शनों में अपना एक विशेष स्थान बन गया है। जैनदर्शन का अर्थ है—अनेकान्तवाद और स्याद्वाद।

जैसे कि वेदान्त को अद्वैतवाद के नाम से पहचाना जाता है। सांख्य को प्रकृतिवाद के नाम से जाना जाता है। वैशेषिक दर्शन को परमाणुवाद के नाम से तथा पदार्थवाद के नाम से समझा जाता है। न्याय-दर्शन को प्रमाणवाद के नाम से जाना गया है। मीमांसा दर्शन की प्रसिद्धि कर्मवाद से है। बौद्ध दर्शन की प्रसिद्धि शून्यवाद तथा विज्ञानवाद के कारण मानी जाती है, वैसे ही जैन दर्शन की ख्याति भी अनेकान्तवाद और स्याद्वाद के कारण है।

जैन दर्शन के मर्मस्थल को समझने के लिए प्रमाण, नय और निक्षेप—तीनों के परिज्ञान की आवश्यकता है। प्रमाण का अर्थ है—वस्तु

का यथार्थ ज्ञान। नय का अर्थ है—प्रमाण द्वारा परिज्ञात वस्तु के किसी एक धर्म का परिज्ञान। निक्षेप का अर्थ है—अप्रकृत अर्थ का निराकरण करके प्रकृत अर्थ का विधान करना। निक्षेप, शब्द प्रयोग की एक सुन्दर प्रक्रिया है।

नयों का स्वरूप, लक्षण और परिभाषा समझने से पूर्व नयों के भेदों को समझना आवश्यक होगा। आगमों में नयों के सात भेद हैं। आगमोत्तर साहित्य में एकरूपता नहीं रही। तत्त्वार्थ सूत्र मूल में नयों के सात भेद हैं। पांच भेद भी हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द। शब्द के तीन भेद हैं—साम्प्रत, समभिरूढ़, एवंभूत।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के स्वरचित सन्मति सूत्र में नयों के छह भेद हैं—संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत। नयों के मूल में दो भेद भी हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इस प्रकार नयों के भेद के विषय में एकमत नहीं है। सामान्य रूप में नयों के सात भेद ही प्रसिद्ध हैं। वे सात भेद इस प्रकार हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर नैगम नय को स्वीकार नहीं करते। अतः उन्हें षड्नयवादी कहा जाता है। अन्य किसी ने नयों के छह भेद नहीं किए हैं।

विचार और व्यवहार

सामान्यतया व्यवहार के आधार तीन हैं—ज्ञान, शब्द और अर्थ। किसी भी वस्तु पर विचार करना ज्ञान है। जिस व्यक्ति का जितना ज्ञान होगा, वह उतना ही उस वस्तु के स्वरूप को समझ सकेगा। व्यवहार का ज्ञानाश्रयी पक्ष वस्तु का प्रतिपादन विचार प्रधान दृष्टि से करता है।

व्यवहार का अर्थाश्रयी पक्ष मुख्यतया अर्थ का विचार करता है। अर्थ में जहाँ एक ओर एक, नित्य और व्यापी चरम अभेद की कल्पना की जाती है, तो वहां दूसरी ओर क्षणिकत्व, परमाणुत्व और निरंशत्व की दृष्टि से चरम भेद की कल्पना भी की जाती है। तीसरी कल्पना, इन दोनों चरम कोटियों के मध्य की है। सर्वथा ही अभेद स्वीकार करने वाले अद्वैत वादी हैं। सूक्ष्मतम वर्तमान क्षणिक अर्थ-पर्याय पर दृष्टि रखने वाले क्षणिकवादी बौद्ध हैं। तीसरी कोटि में पदार्थ को नाना रूप से व्यवहार में लाने वाले न्याय-वैशेषिक हैं, जो सामान्य-विशेष उभयवादी हैं।

व्यवहार का शब्दाश्रयी पक्ष, भाषा शास्त्री है, जो अर्थ की ओर ध्यान न देकर केवल शब्द की ओर ही अधिक ध्यान देते हैं। उनका कथन

है, कि भिन्न काल वाचक, भिन्न कारकों में निष्पन्न, भिन्न वचन वाले, भिन्न पर्याय वाचक और भिन्न क्रियावाचक शब्द एक अर्थ को नहीं कह सकते। जहाँ शब्द भेद होता है, वहाँ अर्थभेद भी होता है।

तत्त्व परिबोध के उपाय

मूल आगमों में, और उनके व्याख्या ग्रन्थ—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओं में, तत्त्व-परिबोध के दो उपाय परिकथित हैं—प्रमाण और नय। इन दोनों के विना तत्वों का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। आचार्य उमास्वाति ने भी अपने सूत्र ग्रन्थ तत्वार्थाधिगममें,तत्वों का अधिगम अर्थात् यथार्थ ज्ञान के लिए प्रमाण और नय को स्वीकार किया है। कहा है, कि प्रमाण और नय से जीव एवं अजीव आदि का अधिगम होता है, तत्वों का परिबोध होता है। प्रमाण क्या है? इसके उत्तर में कहा गया कि सम्यग् ज्ञान ही प्रमाण है। नय क्या है? इसके उत्तर में कहा गया, कि प्रमाण द्वारा परिगृहीत अनन्तधर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म को ग्रहण करने वाला विचार नय है। ज्ञाता के अभिप्राय को भी नय कहा गया है। आगम की भाषा में, सम्यक्त्व सहचरित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। मिथ्यात्व सहचरित ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा जाता है। मिथ्याज्ञान कभी प्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि उसमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय होते हैं, जिनके कारण वस्तु का निर्णय नहीं हो पाता। नय भी दो प्रकार के होते हैं—सुनय और दुर्नय। जो नय अपने विषय को ग्रहण करता परन्तु दूसरे धर्मों का निषेध नहीं करता है, वह सुनय है। जो नय अपने विषय को ग्रहण करके दूसरे धर्मों का निषेध करता है, विरोध करता है, वह दुर्नय है।

ज्ञान और प्रमाण

आगमों में और उनके व्याख्या ग्रन्थों में, ज्ञान का वर्णन दो प्रकार से उपलब्ध होता है—ज्ञान रूप में और प्रमाण रूप में। ज्ञान के सीधे पाँच भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल। इनके अवान्तर भेद-प्रभेद मिलाने पर ज्ञान के ३४० भेद हो जाते हैं। तत्वार्थ सूत्र में और कर्म ग्रन्थों में ये भेद उपलब्ध हैं। परन्तु न्याय-शास्त्र के युग में आचार्यों ने ज्ञान का विभाजन प्रमाण रूप में, आवश्यक समझा। अतः नन्दीसूत्र में पञ्चविध ज्ञान को दो प्रमाणों में विभक्त किया गया—प्रत्यक्ष और परोक्ष। तत्त्वार्थ सूत्र में भी पहले पञ्चविध ज्ञान का कथन किया गया, और बाद में दो प्रमाणों में उसे विभक्त किया गया—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रमाण और नय

आगमों में, स्थानांग सूत्र में तथा अनुयोगद्वार-सूत्र में सप्त नयों का उल्लेख है। अनुयोग द्वार का वर्णन विस्तृत है, जबकि स्थानांग में सप्त नयों का उल्लेख है, उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन नहीं किया गया। विशेषावश्यक भाष्य में, ज्ञान, नय और निक्षेपों का अति विस्तार से वर्णन उपलब्ध है। तत्वार्थ सूत्र में नयों के सात भेद नहीं, केवल पाँच भेद हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द। शब्द के तीन भेद किए गए हैं—साम्प्रत, समभिरूढ़ और एवंभूत। फिर और भी संक्षेप हुआ, तो नय के केवल दो भेद रहे –द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय।

नयों का सामान्य परिचय

भारतीय दर्शनों में, नय विचार जैन दर्शन की अपनी एक विशेषता है, जो अन्य दर्शनों में नहीं है। यदि है, तो वह एकान्तरूप है, अनेकान्त रूप नहीं। सामान्यतया नय की सुगम एवं सुबोध परिभाषा यही है, कि पदार्थ के समग्र धर्मों एवं गुणों की ओर ध्यान न देकर, वस्तु के किसी एक विशिष्ट दृष्टिकोण से विषय का निरूपण करना। इसी को जैनदर्शन में नय विचार कहा गया है।

नय के मूल में दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। प्रथम का विषय द्रव्य है, और द्वितीय का विषय पर्याय है। द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं—नैगम, संग्रह और व्यवहार। पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। नयों का यह एक सामान्य परिचय है। दूसरी एक पद्धति यह भी है कि नयों के सीधे सात भेद होते हैं—जैसे कि नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत।

नयों की परिभाषा

१. नैगमनय—संकल्प मात्र को ग्रहण करने वाला विचार है। जैसे एक व्यक्ति बन की ओर जा रहा है। दूसरा पूछता है, कहाँ जा रहे हो? वह उत्तर देता है, हल लेने जा रहा हूँ। वस्तुतः वह हल के लिए काष्ठ लेने जा रहा है। लेकिन संकल्प है, हल का।

२. संग्रह नय—जो विचार वस्तु के विशेष धर्मों को गौण कर, सामान्य को ग्रहण करता है, वह संग्रह नय होता है। जैसे कि सत् कहने भर से जीव और अजीव, सबका ग्रहण हो जाता है।

३. व्यवहार नय—जो विचार वस्तु के सामान्य धर्म को गौण करके

विशेष धर्मों को ग्रहण करता है, वह व्यवहार नय होता है। जैसे सत् के दो भेद करना, जीव और अजीव।

४. ऋजुसूत्र नय—जो विचार द्रव्य को ग्रहण न करके उसकी वर्तमान क्षणिक पर्याय को ग्रहण करता है, वह ऋजुसूत्र नय है। जैसे कि बौद्धदर्शन में कहा गया है, कि यत् सत् तत् क्षणिकं। जैन दर्शन के अनुसार पर्याय क्षणिक ही होता है।

५. शब्द नय—जो विचार शब्द को और उसके अर्थ को ग्रहण करता है, वह शब्द नय होता है। यहाँ प्रधानता शब्द को है। यह नय शब्द के भेद से अर्थ का भेद मानता है। एकार्थवाचक शब्द भी लिंग, वचन तथा कारक भेद से अर्थ का भेद स्वीकार करते हैं। जैसे कि तटः, तटी, तटम्। लिंग भेद के कारण अर्थ भेद है।

६. समभिरूढ नय—जो विचार व्युत्पत्ति के भेद से अर्थभेद करता है, वह समभिरूढ नय है। जैसे इन्द्र और पुरन्दर, दोनों शब्दों का वाच्य अर्थ एक होने पर भी व्युत्पत्ति के भेद से अर्थ भेद हो जाता है। इन्दनात् इन्द्र तथा पुरं दारयति, इति पुरन्दरः। अतः इन्द्र एवं पुरन्दर का अर्थ भिन्न है।

७. एवंभूत नय—जो विचार वर्तमान क्रिया परिणत अर्थ को ग्रहण करता है, वह एवंभूत नय है। जैसे कि जब सिंहासन पर बैठा हो, तभी उसको राजा माना जा सकता है। अन्यथा, स्थिति में उसको राजा नहीं कहा जा सकता।

एक बात यह भी ध्यान में रखने की है, कि ऊपर से नीचे की ओर आने से पूर्व नय से उत्तर नय सूक्ष्म होता जाता है। नीचे से ऊपर की ओर चढ़ने से उत्तर नय की अपेक्षा पूर्व नय का विषय, विशाल होता जाता है। जैसे एवंभूत की अपेक्षा, नैगम का विषय बहुत ही विशाल होता है। उसकी परिधि भी बढ़ती चली जाती है। यहाँ पर केवल नयों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

दूसरे, इस बात का भी ध्यान रखना है, कि नयों का विभाजन अथवा वर्गीकरण अनेक प्रकार का है। नयों की संख्या के विषय में भी एकमत नहीं है। दो, पाँच, छह एवं सात तथा नयों के भेद संख्यात—असंख्यात भी हो सकते हैं। जितने वचन-प्रकार, उतने ही नय प्रकार होते हैं।

नय प्रतिपादन-पद्धति

जिस प्रकार नयों के प्रकार भिन्न-भिन्न हैं, तथा उनकी संख्या भी भिन्न-भिन्न है, उसी प्रकार नयों के प्रतिपादन की पद्धति भी भिन्न-भिन्न हैं। तीन प्रकार से नयों का प्रतिपादन किया गया है—आगम, दर्शन, तर्क।

१. आगम पद्धति—मूल आगमों में, उनके व्याख्या ग्रन्थ, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और विशेष रूप में, विशेषावश्यक भाष्य में नयों का जो प्रतिपादन किया गया है, वह सब आगमधर विद्वानों के द्वारा किया गया है। अनुयोग तथा निक्षेप की भाँति नय भी आगम व्याख्या के साधन हैं, साध्य नहीं। अनुयोगद्वार-सूत्र में, आगम पद्धति से नयों का वर्णन किया है। लक्षण और परिभाषा न देकर भेद तथा उपभेदों का कथन अधिक किया गया है।

आगम पद्धति का दूसरा वर्णन दिगम्बर परम्परा के आगमों में, और आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार एवं प्रवचनसार आदि ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होता है, जहाँ नय के दो भेद हैं—निश्चय नय और व्यवहार नय। आचार्य अमृतचन्द्र की संस्कृत टीकाओं में निश्चय और व्यवहार के अनेक उपभेदों का कथन मिलता है। इस पद्धति का विकास माइल्लधवल विरचित नयचक्र ग्रन्थ में तथा देवसेनकृत आलाप-पद्धति में अत्यन्त चारु रूप में किया गया है।

२. दर्शन पद्धति—मूल तत्वार्थ सूत्र में, उमास्वाति आचार्य द्वारा रचित स्वोपज्ञ भाष्य में और उसकी विशाल टीका सिद्धसेनीया में, दार्शनिक दृष्टिकोण से नयों का विवेचन किया गया है। श्वेताम्बर परम्परा के परम दार्शनिक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के प्रसिद्ध ग्रन्थरत्न सन्मति-सूत्र के प्रथम काण्ड में, नयों का वर्णन विशुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण से किया गया है। अन्य ग्रन्थों में, तथा उसके टीका ग्रन्थों में भी यही पद्धति स्वीकार की है। यह दार्शनिक दृष्टिकोण वस्तुतः आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की देन है।

दिगम्बर परम्परा में, इस पद्धति से नयों का विवेचन तत्वार्थ सूत्र की वृत्ति सर्वार्थ-सिद्धि में, राज-वार्तिक में तथा श्लोक-वार्तिक में उपलब्ध होता है, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण कहा जा सकता है।

३. तर्क पद्धति—तर्क शैली से नयों का वर्णन आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के न्याय ग्रन्थ न्यायावतार से प्रारम्भ होता है। श्वेताम्बर परम्परा के महान् तार्किक आचार्य वादिदेवसूरि ने स्वप्रणीत न्याय ग्रन्थ प्रमाण

नय तत्वालोक में नयों का विवेचन तर्क पद्धति से किया है। इतना विस्तार अन्य किसी न्याय-ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। क्योंकि आचार्य हेमचन्द्र-कृत प्रमाण-मीमांसा में पूरा प्रमाण का भी वर्णन नहीं है। परीक्षामुख में इस नय विषय का स्पर्श भी नहीं किया। वाचक यशोविजयकृत जैन तर्क भाषा में नयों के वर्णन में वादिदेव का अनुसरण किया गया है।

अध्यात्म-दृष्टि से नयों का कथन

अध्यात्मदृष्टि से भी आचार्यों ने तथा ग्रन्थकारों ने नयों का कथन किया है। आस्तिक दर्शनों में आत्मा की सत्ता के विषय में, विवाद नहीं है। मतभेद है, उसके स्वरूप के सम्बन्ध में। अतः आत्मा के स्वरूप में जो विवाद है, उसे दूर करना भी परम आवश्यक होता है। आत्मा का ज्ञान अथवा आत्मा में ज्ञान तथा ज्ञान ही आत्मा है। इन वाक्यों के रहस्य को नय प्रयोग से ही समझा जा सकता है। आत्मा में ज्ञान, यहाँ आत्मा आधार है, और ज्ञान आधेय है। दोनों में आधार आधेय सम्बन्ध बनता है। आत्मा का ज्ञान यहाँ दोनों में भेद स्पष्ट है। लेकिन जब कहा जाता है, कि आत्मा ही ज्ञान अथवा ज्ञान ही आत्मा है, तब दोनों में अभेद सम्बन्ध सिद्ध होता है।

जैन दर्शन में दो दृष्टि हैं—अभेद और भेद। अभिन्न और भिन्न। निश्चयनय तो अभेद को ग्रहण करता है, और व्यवहारनय भेद को ग्रहण करता है। निश्चयनय से आत्मा ज्ञान स्वरूप है। आत्मा और ज्ञान में भेद नहीं है। परन्तु व्यवहार नय की स्थिति भिन्न है। उस में पर-निमित्त से ज्ञान होता है। व्यवहार नय भेद की प्रधानता को स्वीकार करता है। निश्चयनय के भी अनेक भेद हैं, और व्यवहारनय के भेद-अनुभेद और उपभेद बहुत होते हैं। लेकिन निश्चय और व्यवहार मुख्य भेद हैं।

अन्य दर्शन और नय

अन्य दर्शनों में नयों का उल्लेख तो नहीं है। लेकिन वेदान्त में दो दृष्टियों का तो वर्णन उपलब्ध होता है। जैसे कि पारमार्थिक दृष्टि और व्यावहारिक दृष्टि। पहली दृष्टि से जगत् में एक ही सत्ता है, परम ब्रह्म। उसके अतिरिक्त शेष जगत् मिथ्या है, सत्य नहीं है। जगत् का नानात्व भी मिथ्या है। किन्तु वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार व्यावहारिक दृष्टि से जगत् सत् प्रतीत होता है। जगत् नानात्व की प्रतीति माया के कारण ही होती है। अतः वेदान्त में दो दृष्टियों का प्रतिपादन किया गया है।

बौद्ध दर्शन में भी दो दृष्टि हैं—परमार्थ-दृष्टि और संवृत-दृष्टि। बौद्ध दर्शन का शून्यवाद और विज्ञानवाद—इन दोनों के आधार पर ही जगत् व्याख्या प्रस्तुत करता है।

जैन दर्शन में, जिन दो नयों का प्रतिपादन किया गया है, उन्हीं का रूपान्तर दृष्टियों में स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। निश्चय नय और व्यवहार नय में, दोनों का समावेश सुगमता से किया जा सकता है। सांख्य दर्शन की विवेक ख्याति का भी नयों में अन्तर्भाव किया जा सकता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के सामान्य और विशेषों का आधार भी भेद दृष्टि और अभेद-दृष्टि ही हैं। अतएव अन्य दर्शनों में नय शब्द का प्रयोग न करके उक्त शब्दों का प्रयोग किया गया है।

अनुयोगद्वारसूत्र में नय

अनुयोग शब्द आगमों का विशिष्ट शब्द है जिसका अर्थ होता है, व्याख्यान अथवा विवेचन। इस सूत्र में आवश्यक सूत्र का व्याख्यान विस्तार से किया गया है। इसमें ज्ञान, प्रमाण, नय और निक्षेप का भी विवेचन किया गया है। भाव प्रमाण के द्वितीय भेद नय प्रमाण का विवेचन करते हुए सूत्रकार ने प्रस्थक, वसति एवं प्रदेश के दृष्टान्त से नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत—इन सात नयों का स्वरूप स्पष्ट किया है। नय नामक चतुर्थ अनुयोगद्वार में नैगम आदि सात नयोंका स्वरूप बताया गया है। स्थानांग-सूत्र में भी नयों के सात भेद कहे गये हैं।

१. नैगम नय--जो विचार लोकरूढ़ि के आधार पर कहा जाता है, अथवा जिसमें द्रव्य और पर्याय का अभेद मानकर कथन किया जाता है, वह नैगम नय है। जैसे किसी ने चावल साफ करने वाले से पूछा—क्या करते हो? वह कहता है, कि भात पका रहा हूँ। यह नय संकल्प-मात्र ग्राही होता है।

२. **संग्रह नय**—जो विचार सर्वग्राही हो, वह संग्रह नय होता है। जैसे कि जीव कहने से सर्व जीवों का ग्रहण हो जाता है—संसारी भी सिद्ध भी।

३. **व्यवहार नय**—जो विचार भेद का ग्रहण करता है, वह व्यवहार नय होता है। जैसे जीव के दो भेद, तीन भेद, चार भेद और पाँच भेद आदि। बिना भेद के व्यवहार चल नहीं सकता।

. ऋजुसूत्र नय—जो विचार क्षण-मात्र ग्राही होता है, वह ऋजु सूत्र नय कहा जाता है। यह अतीत और अनागत को गौण करके केवल वर्तमान को ही ग्रहण करता है। जैसे जो क्षणिक है, वह सत् है। क्यों कि क्षण मात्र स्थायी होता है, पर्याय। यह नय पर्याय को ही ग्रहण करता है।

५. शब्द नय—जो विचार काल, कारक, लिंग और वचन के भेद से एक ही शब्द का अर्थभेद मानता हो, वह शब्द नय है। जैसे कि भारत था, है और रहेगा। इस नय की दृष्टि में भारत तीन देश हैं, केवल एक देश नहीं रहता।

६. **समभिरूढ़ नय**—जो विचार पर्यायवाचक शब्दों में भी अर्थभेद करता है, वह नय समभिरूढ़ होता है। जैसे समुद्र, सागर तथा रत्नाकर। तीनों पर्यायवाचक शब्द हैं और तीनों का अर्थ भी एक है, फिर भी यह नय व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थभेद करता है।

७. **एवंभूत नय**—जो विचार वर्तमान क्रिया-परिणत पदार्थ को ही मानता है, वह एवंभूत नय है। जैसे जो सेवाकार्य में रत है, उसको ही सेवक कहता है, जो राज्य सिंहासन पर बैठा है, वही राजा है।

इस प्रकार यदि ये सातों नय अपने-अपने विषय को ग्रहण करें और दूसरे का विरोध न करें, तो ये सुनय कहे जाते हैं। यदि ये सब परस्पर विरोध करते हैं, तो ये दुर्नय कहे जाते हैं। यह नयों की व्यवस्था है।

तत्त्वार्थसूत्र में नय

तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम अध्याय के सूत्र ३४ और ३५ में, नयों के भेदों का कथन है। उसमें नय का सामान्य लक्षण नहीं दिया गया। भेद इस प्रकार हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द। मूल भेद पाँच हैं। नैगम के दो भेद हैं, और शब्द के तीन भेद हैं। नैगम नय के दो भेद हैं—देश-परिक्षेपी और सर्व-परिक्षेपी। शब्द के तीन भेद इस प्रकार हैं—साम्प्रत, समभिरूढ़ तथा एवंभूत।

नय के भेदों की संख्या के विषय में तीन परम्पराएँ रही हैं। सात भेद वाली परम्परा आगम और दिगम्बर ग्रन्थों की है। दूसरी परम्परा तत्वार्थ सूत्र और उसके भाष्य की है, जिसमें नयों के पाँच भेद होते हैं। तीसरी परम्परा आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की है, जिसमें नयों के छह भेद हैं। नैगम को छोड़कर शेष छह भेद स्वीकार हैं।

नय का सामान्य लक्षण

किसी भी विषय का सापेक्ष निरूपण करने वाला, विचार नय है। संक्षेप में नय के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। जैन दर्शन में वस्तुमात्र सामान्य-विशेष उभयात्मक है। मनुष्य की चेतना अथवा बुद्धि, कभी वस्तु के सामान्य को ग्रहण करती है, तो कभी विशेष को। जब वह वस्तु के सामान्य को ग्रहण करती है, तब उसका वह विचार द्रव्यार्थिक नय कहा जाता है। जब वस्तु के विशेष को ग्रहण करती है, तब उसका विचार पर्यायार्थिक नय होता है। लेकिन यह नहीं समझ लेना चाहिए कि द्रव्यदृष्टि में विशेष अर्थात् पर्याय नहीं रहता, और पर्यायदृष्टि में सामान्य अर्थात् द्रव्य नहीं रहता है। दोनों ही रहते हैं, किन्तु गौण-मुख्य भाव होता है। कभी पर्याय गौण है, तो द्रव्य मुख्य रहता है। कभी द्रव्य गौण है तो पर्याय मुख्य हो जाता है। अतः नयों के मूल में दो भेद हो जाते हैं। एक द्रव्यार्थिक नय और दूसरा पर्यायार्थिक नय।

नयों के विशेष लक्षण

१. **नैगम नय**—जो विचार लोकरूढ़ि तथा लोक संस्कार के अनुसरण से उत्पन्न होता है, वह नैगम नय कहा जाता है।

जैसे कि किसी काम के संकल्प से जाते किसी व्यक्ति से पूछा जाए, कि कहाँ जा रहे हो, वह कहता, कि गाड़ी लेने जा रहा हूँ। वह गाड़ी लेने के लिए लकड़ी लेने जा रहा है, लेकिन संकल्प गाड़ी का है। यह एक प्रकार की लोकरूढ़ि है। आज महावीर-जयन्ती है। आज रामनवमी है। यह भी लोकरूढ़ि है। भारत और चीन लड़ रहे हैं। वस्तुतः भारत और चीन के लोग लड़ रहे हैं। यह भी लोकरूढ़ि और लोक संस्कार के अनुसार ही कहा जाता है। आलंकारिक विद्वान् यहाँ पर शब्द की लक्षणा शक्ति मानते हैं। काव्य प्रकाश में, आचार्य मम्मट ने 'गंगायां घोषः।" यहाँ पर गंगा शब्द के तीन अर्थ स्वीकार किए हैं—प्रवाह, तट और शीतत्व—पावनत्व। शब्द की तीन शक्तियों के आधार पर है—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना ये तीन वृत्तियाँ।

२. **संग्रह नय**—जो विचार, जीव और अजीव तथा जड़ और चेतन का विभाग न करके सद्रूप से सबको एक मानता है, वह संग्रह नय है। समस्त संसार सद्रूप है, क्योंकि सत्ताशून्य वस्तु जगत् में है ही नहीं। जैसे समस्त मनुष्य एक हैं। क्योंकि सब में मनुष्यत्व सामान्य अनुस्यूत रहता है। यह नय वस्तुगत सामान्य को ग्रहण करने वाला होता है। जो-जो विचार,

सामान्य तत्व के आश्रय से विविध वस्तुओं का एकीकरण करते हैं, वे वे विचार संग्रह नय की सीमा एवं परिधि में आ जाते हैं।

३. व्यवहार नय—जो विचार भेद को ग्रहण करने वाला होता है, वह व्यवहार नय कहा जाता है। बिना विभाग के व्यवहार सम्भव नहीं है। जगत् का समस्त व्यवहार विभाग पर ही चलता है। जैसे मनुष्य में विभाग करना, कि यह ब्राह्मण है, यह क्षत्रिय है, यह वैश्य और यह अन्त्यज है। फिर उनमें भी भेद करते जाना। सत् को एक मानकर भी उसमें भेद करना कि यह जीव और यह अजीव है। जीव में भी विभाग करना कि यह संसारी है तथा यह सिद्ध है।

नैगम नय का आधार लोकरूढ़ि है, लोकरूढ़ि आरोप पर आश्रित होती है। अतः नैगम नय सामान्य-विशेष दोनों को ग्रहण करता है। संग्रह नय, केवल सामान्य को ग्रहण करता है। व्यवहार नय भेद को, विभाग को ग्रहण करता है। फिर भी ये तीनों कम-अधिक रूप में अभेदग्राही तथा सामान्यग्राही होने से द्रव्यार्थिक नय के भेद माने जाते हैं। क्योंकि किसी न किसी रूप में, इन तीनों में, द्रव्य, अभेद एवं सामान्य अंश रहता है।

४. **ऋजुसूत्र नय**—जो विचार अतीत और अनागत काल का विचार न करके वर्तमान को ग्रहण करता है, वह ऋजुसूत्र नय कहा जाता है। यह नय मानता है, कि भूत तथा भावि वस्तु वर्तमान में कार्य साधक न होने से शून्यवत् है। जैसे कि वर्तमान समृद्धि ही सुख का साधन होने से समृद्धि कही जा सकती है। लेकिन भूत काल की समृद्धि का स्मरण अथवा भावी समृद्धि की कल्पना, वर्तमान में सुख देने वाली न होने से समृद्धि नहीं है। जो पुत्र अतीत हो अथवा भावी हो, वर्तमान न हो, वह पुत्र ही नहीं होता—इस नय की दृष्टि में।

५. **शब्द नय**—जो विचार शब्द प्रधान होकर शब्दगत धर्म की ओर झुककर, तदनुसार ही अर्थभेद की कल्पना करता है, वह शब्द नय कहा जाता है। काल, कारक, लिंग और वचन के भेद से शब्द का अर्थ भी भिन्न हो जाता है। जब मनुष्य की बुद्धि काल तथा लिंग के भेद से अर्थ में भी भेद करने लगती है, तब वह शब्द नय होता है। जैसे कि राजगृह नामक एक नगर था। लेकिन भूतकाल में था। वर्तमान में वह नहीं है। अतः भूतकालीन राजगृह नगर, वर्तमान नगर से भिन्न है। यह काल भेद से अर्थ भेद है। तटः, तटी, तटम्। यहाँ पर लिंग भेद से अर्थ भेद है। क्योंकि तीनों शब्द पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग हैं। इसी प्रकार संस्थान, प्रस्थान

और उपस्थान तथा आराम और विराम आदि शब्दों में एक ही धातु होने पर भी उपसर्ग के भेद से अर्थभेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यह शब्द नय का स्वरूप है।

६. समभिरूढ़ नय—जो विचार शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर, अर्थभेद की कल्पना करता है, वह समभिरूढ़ नय होता है। जब मनुष्य की बुद्धि व्युत्पत्ति भेद का आश्रय ग्रहण करती है, तब वह एकार्थक शब्दों का भी व्युत्पत्ति के अनुरूप भिन्न-भिन्न अर्थ करती है। जैसे कि राजा, नृपति और भूपति आदि एकार्थक शब्द हैं। लेकिन व्युत्पत्ति के अनुसार राजचिन्हों से शोभित राजा, मनुष्यों का रक्षण करने वाला नृप और पृथ्वी का पालन करने वाला भूपति होता है। यहाँ व्युत्पत्तिभेद से अर्थभेद है। अतएव समभिरूढ़ नय व्युत्पत्ति को प्रधानता देता है।

७. एवंभूत नय—जो विचार शब्द से फलित होने वाले अर्थ के घटने पर ही उस वस्तु को उस रूप में, मानता है, अन्यथा नहीं, वह एवंभूत नय होता है। एवंभूत नय का कथन है, कि जब व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ घटित होता हो, तभी उस शब्द का वह अर्थ स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा एवं अन्यदा नहीं। इसके अनुसार, छत्र एवं चामर से शोभित ही राजा हो सकता है। रक्षण क्रिया में रत ही नृप हो सकता है। भू का पालन करते समय ही भूपति हो सकता है। अभिप्राय यह है, कि राजा शब्द का प्रयोग तभी ठीक होगा, जब व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ घटित हो रहा हो। इन चारों नयों का मूल पर्यायार्थिक नय कहा गया है।

तत्वार्थ सूत्र के भाष्यानुसार नैगम नय के दो भेद होते हैं—देश परिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी देश परिक्षेपी का अर्थ है—अंशग्राही अथवा विशेष ग्राही। सर्वपरिक्षेपी का अर्थ है—सर्वग्राही अथवा सामान्यग्राही। क्योंकि नैगम नय दोनों को ग्रहण करता है, सामान्य को भी और विशेष को भी। द्रव्य को भी और पर्याय को भी। अतः वह उभयग्राही होने से देशपरिक्षेपी तथा सर्वपरिक्षेपी कहा जाता है। यह सर्व विषयी नय है।

नय देशना का प्रयोजन

नय-निरूपण का अर्थ है, विचारों का वर्गीकरण। नयवाद का अर्थ है, विचारों की मीमांसा। अतः नयवाद की परिभाषा इस प्रकार है—परस्पर विरुद्ध विचारों के वास्तविक अविरोध के बीज की गवेषणा करके विचारों का समन्वय करने वाला शास्त्र। जैसे कि दर्शन-शास्त्र में आत्मा के सम्बन्ध में परस्पर विरुद्ध विचार हैं—नित्यत्व और अनित्यत्व तथा

एकत्व और अनेकत्व। इसका समाधान नयवाद करता है, कि द्रव्यदृष्टि से आत्मा नित्य है, पर्यायदृष्टि से आत्मा अनित्य है। चैतन्य स्वरूप की अपेक्षा से आत्मा एक है। व्यक्ति की अपेक्षा से आत्मा अनेक हैं। अतः नयवाद को अपेक्षावाद भी कहा जाता है।

नयवाद की देशना का प्रयोजन क्या है? इसके सम्बन्ध में कहा गया है, कि श्रुत, यह विचारात्मक ज्ञान है, नय भी एक प्रकार से विचारात्मक ज्ञान होने से श्रुत में ही समा जाता है। यहाँ पर प्रश्न यह होता है, कि श्रुत का निरूपण हो जाने के बाद नयों को उससे भिन्न करके नयवाद की देशना अलग क्यों की जाती है? जैन दर्शन की एक विशेषता नयवाद के कारण मानी जाती है। लेकिन नय तो श्रुत है, और श्रुत कहते हैं, आगम प्रमाण को। श्रुत प्रमाण में अर्थात् आगम प्रमाण में नय का समावेश हो जाता है। फिर उसकी अलग देशना क्यों? समाधान में कहा गया है, कि किसी भी विषय को सर्वांश में स्पर्श करने वाला विचार श्रुत है, और उसी विषय के किसी एक अंश को स्पर्श करने वाला विचार नय होता है। नय न प्रमाण है, और न अप्रमाण। जैसे कि हाथ की अंगुली के अग्र भाग को अँगुली नहीं कह सकते, और न अँगुली नहीं है, यही कह सकते हैं। फिर भी वह अँगुली का अंश तो है ही। नय भी श्रुत प्रमाण का अंश है। अतः समग्र विचारात्मक श्रुत से अंश विचारात्मक नय का निरूपण भिन्न किया है।

नयों के अन्य भेद

प्रकारान्तर से भी सात नयों के दो भेद किये जाते हैं—शब्दनय और अर्थनय। जिसमें अर्थ का विचार प्रधान रूप से किया जाता है, वह अर्थ नय होता है। जिसमें शब्द का मुख्य रूप से विचार हो, वह शब्द नय कहा जाता है। प्रथम नय से ऋजुसूत्र पर्यन्त चार अर्थ नय हैं, और शेष तीन शब्द नय हैं। नय के दो भेद इस प्रकार भी हैं—ज्ञान नय और क्रिया नय। नय के दो प्रकार अन्य भी हैं—निश्चय नय और व्यवहार नय।

सन्मति-तर्क प्रकरण में नय

सन्मति तर्क प्रकरण ग्रंथ आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की एक अमर कृति है। पूर्व आचार्यों के ग्रन्थों की समीक्षा करके आचार्य ने इसकी रचना की है। उत्तर काल भावी आचार्यों की कृतियों पर सन्मति सूत्र का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा है। इसकी भाषा प्राकृत है। विषय न्याय एवं तर्क है। प्रस्तुत

ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है। इसके तीन काण्ड हैं। प्रथम काण्ड में अनेकान्तवाद और स्याद्वाद का विशिष्ट शैली में विशिष्ट वर्णन किया है। अनेकान्तवाद का आधार है, नयवाद। स्याद्वाद का आधार है, सप्त भंगवाद। ये दोनों ही जैन दर्शन के आधारभूत तत्व हैं, जिस पर अनेकान्तवाद का भव्य प्रासाद खड़ा है। आचार्य ने सन्मति सूत्र ग्रन्थ के प्रथम काण्ड में नयवाद की विस्तार से परिचर्चा की है। अन्य दर्शनों का नयों में समावेश कर लिया है। अतः प्रथम काण्ड में नयवाद की बड़ी गम्भीर विचारणा की है। प्रथम काण्ड का नाम ही नयकाण्ड रखा है। द्वितीय काण्ड में ज्ञान और दर्शन की गहन गम्भीर मीमांसा की है, जो इसके पूर्व रचित ग्रन्थों में अनुपलब्ध है। द्वितीय काण्ड में ज्ञान एवं दर्शन के सम्बन्ध में, तीन पक्ष हैं—क्रमवाद, युगपत्वाद और अभेदवाद अर्थात् एकत्ववाद। तृतीय काण्ड में, सामान्य और विशेष की लम्बी चर्चा की है। इस प्रसंग पर अन्य दर्शनों की भी विचारणा की है।

नयों के मूल भेद

आचार्य ने नय का लक्षण न करके सीधे नयों के भेद का निरूपण कर दिया है। सम्भवतः उन्होंने सोचा हो, कि मेरे पाठक प्रबुद्ध हैं। वस्तुतः यह ग्रन्थ है भी प्रबुद्ध पाठकों के लिए ही, सामान्य पाठक का इसमें प्रवेश नहीं है।

आचार्य का कहना है कि अनेक नय हैं, लेकिन उनका समावेश दो नयों में हो जाता है। वे मुख्य दो नय इस प्रकार हैं—द्रव्यास्तिक नय और पर्यायास्तिक नय। इन दोनों के नामान्तर हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। इन्हीं को सामान्य भाषा में, अभेदगामी दृष्टि और भेदगामी दृष्टि भी कहा जा सकता है। आचार्य ने दोनों के लिए इन शब्दों का प्रयोग किया है—संग्रह प्रस्तार और विशेष प्रस्तार। इन दो नयों के कथन से अन्य सभी का कथन समझ लेना चाहिए।

नयों के उत्तर भेद

द्रव्यास्तिक नय के दो भेद हैं—संग्रह और व्यवहार। सत्ता रूप तत्व को अखण्ड रूप में ग्रहण करने वाली दृष्टि, संग्रह नय कहा जाता है। यही शुद्ध द्रव्यास्तिक नय है। सत्ता को जीव और अजीव रूप में खण्डित करके व्यवहार करने वाली दृष्टि व्यवहार नय है। अतः संग्रह और व्यवहार, इन दोनों को द्रव्यास्तिक नय के अनुक्रम से शुद्ध अपरिमित और अशुद्ध परि-

मित अंश कहते हैं। नयों का इस प्रकार का प्रतिपादन अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। यह तर्क पद्धति से नयों का विभाजन है।

कालकृत भेद का आलम्बन लेकर वस्तु विभाग का प्रारम्भ होते ही ऋजुसूत्र नय माना जाता है, और वहीं से पर्यायास्तिक नय का प्रारंभ समझा जाता है। अतः ऋजुसूत्र नय को पर्यायास्तिक नय का मूल आधार कहा गया है। बाद के शब्द आदि जो तीन नय हैं, वे ऋजुसूत्र के भेद हैं। फिर भी ऋजुसूत्र आदि चारों नय पर्यायास्तिक के ही भेद माने जाते हैं।

शब्द नयों के भेद

जो दृष्टि तत्त्व को केवल वर्तमान काल तक ही सीमित करती है। भूत और भावी काल को कार्य के असाधक मानकर उनको स्वीकार नहीं करती, इस प्रकार की क्षणिक दृष्टि को ऋजुसूत्र नय कहा जाता है।

वर्तमान काल के तत्व में भी जो दृष्टि लिंग और पुरुष आदि के भेद से भेद को स्वीकार करती है, उसको शब्द नय कहा गया है।

शब्द नय द्वारा मान्य समान लिंग और वचन आदि के अनेक शब्दों के एक अर्थ में व्युत्पत्ति के भेद से, पर्याय के भेद से जो दृष्टि अर्थभेद की परिकल्पना करती है, वह समभिरूढ़ नय होता है।

समभिरूढ़ नय द्वारा स्वीकृत एक पर्याय शब्द के एक अर्थ में भी जो दृष्टि क्रिया काल तक ही अर्थ तत्त्व को स्वीकार करती है, और क्रिया शून्यकाल में नहीं, उसको एवंभूत नय कहा जाता है। इस प्रकार का चारों नयों का स्वरूप है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने छह नय स्वीकार किए हैं—संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। नैगम नय को स्वीकार नहीं किया। वह स्वतन्त्र नय नहीं है।

न्यायावतार-सूत्र में नय

महावादी आचार्य सिद्धसेन दिवाकर जैन परम्परा में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के महान् तार्किक, नैयायिक और दार्शनिक थे। उन्होंने अनेक गौरव ग्रन्थों की चारु रचना की। दो ग्रन्थ रत्न अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—सन्मति सूत्र और न्यायावतार सूत्र। प्रथम में दार्शनिक तत्वों की गहन-गम्भीर विचारणा है, और द्वितीय में न्याय-शास्त्र के प्रमेयों पर संक्षेप में विचार किया गया है। न्यायावतार में बत्तीस कारिकाएँ हैं, जिनमें प्रमाण और नय पर मीमांसा की है। यह ग्रन्थ जैन न्याय के ग्रन्थों में मुकुटमणि माना जाता है। जैन न्याय का आदिम तथा प्रथम ग्रन्थ है—न्यायावतार।

न्यायावतारकार दिवाकर आचार्य सिद्धसेन, जैन परम्परा के अनुसार, विक्रम की प्रथम शती के परम प्रभावक आचार्य थे। इतिहासकारों के अनुसार चतुर्थ शती के चरम चरण के विद्वान् थे। कुछ विचारकों के अनुसार पञ्चम शती के प्रथम चरण में उनका समय माना गया है। बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग का और सिद्धसेन का समय एक ही था। दोनों ही नैयायिक थे। दोनों ने अपनी-अपनी परम्परा के न्याय-शास्त्र की रचना की। दिङ्नाग का न्याय प्रवेश और सिद्धसेन का न्यायावतार, दोनों युगान्तरकारी ग्रन्थ-रत्न है। दिङ्नाग बौद्ध न्याय के पिता थे, तो सिद्धसेन जैन न्याय के जनक माने जाते हैं।

नय विचार

न्यायावतार का मुख्य विषय है, प्रमाण मीमांसा। उसकी बत्तीस कारिकाओं में से अट्ठाईस कारिकाओं में प्रमाण पर विचार किया है। उन्तीसवीं तथा तीसवीं, दो कारिकाओं में नय पर विचार किया है। यहाँ पर न तो नय का लक्षण किया है, और न उसके भेद बताये हैं। नय के विषय में केवल दो बात कही हैं—

१. अनेक धर्मात्मक वस्तु प्रमाण का विषय होती है। अनेक धर्मात्मक वस्तु में से किसी एक अंश का, एक धर्म का ज्ञान, नय कहा जाता है। एकदेश विशिष्ट अर्थ नय का विषय होता है।

२. एक निष्ठ अर्थात् एक-एक धर्म को ग्रहण करने वाला नय होता है। समग्र अर्थ को ग्रहण करने वाला स्याद्वाद श्रुत होता है।

श्रुत के मुख्य दो भेद हैं—वस्तु के एक अंश का स्पर्श करने वाला, अंशग्राही होता है, और वस्तु को समग्र भाव से ग्रहण करने वाला, समग्र होता है। अंशग्राही नय श्रुत है, और समग्रग्राही स्याद्वाद श्रुत है। जैसे कि समग्र चिकित्सा-शास्त्र यह आरोग्य तत्त्व का स्याद्वाद श्रुत है, परन्तु आरोग्य तत्व से सम्बद्ध—आदान, निदान और फिर चिकित्सा आदि भिन्न-भिन्न अंशों पर विचार करने वाले अंश, ये चिकित्सा शास्त्र रूप स्याद्वाद के अंश मात्र होने से नय श्रुत कहे जाते हैं। यहाँ पर प्रमाण और नय का पृथक्करण किया गया है।

सिद्धर्षिगणि

न्यायावतार सूत्र के टीकाकार सिद्धर्षि गणि हैं। टीकाकार ने अपनी टीका रचने का प्रयोजन धारणा की प्रवृद्धि बताया है। चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर को नमस्कार करने का कारण बताया है, कि उन्होंने

अपनी दार्शनिक दृष्टि से सामान्य और विशेष की भिन्नता तथा अभिन्नता के सम्बन्ध में, वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन कराया है और अनेकान्त दृष्टि से प्रतिपादन किया है, कि सामान्य और विशेष, दोनों परस्पर में कथंचित् भिन्न हैं, और कथंचित् अभिन्न हैं। एकान्त भिन्न और एकान्त अभिन्न नहीं हैं।

न्यायावतार का अर्थ

टीकाकार ने न्यायावतार का अर्थ किया है, कि नि पूर्वक इण् धातु से नि+आय, न्याय शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है—प्रमाण एवं नय मार्ग। अवतार शब्द का अर्थ होता है—तीर्थ अर्थात् घाट। व्युत्पत्ति "अवतारयति, इति अवतारः" के अनुसार अर्थ होता है—जिसके द्वारा मनुष्य अवतरित होते हैं, वह अवतार कहा जाता है। "न्यायस्य अवतारः" का अर्थ होता है—न्याय का अर्थात् प्रमाणनय का मार्ग अर्थात् घाट। जैसे घाट के द्वारा गम्भीर एवं विशाल नदी को पार करना सरल होता है, वैसे ही इस न्यायावतार ग्रन्थ के अध्ययन द्वारा अध्येता गहन गम्भीर न्याय शास्त्र रूप विशाल सागर को सुगमता तथा सरलता से पार कर सकता है।

नय का लक्षण तथा भेद

टीकाकार सिद्धर्षि गणि ने अपनी टीका में नय का लक्षण भी दिया है, और नय के भेद भी किए हैं। नय के सात भेदों का कथन किया है। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजु सूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। टीकाकार पुरातन परम्परा का अनुगामी है, उसे सिद्धसेन दिवाकर द्वारा संस्थापित षड् भेद वाली परम्परा स्वीकार नहीं है। टीकाकार नैगम को नय मानता है। जैन परम्परा में, अन्य भी किसी आचार्य ने सिद्धसेन दिवाकर का अनुकरण नहीं किया है। महान् श्रुतधर आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का दिगम्बर परम्परा के आचार्य भी बहुमान एवं सम्मान करते रहे हैं। लेकिन उनके द्वारा संस्थापित षड् भेद वाली नय स्थापना को उन्होंने भी मान्यता नहीं दी।

टीकाकार ने नय का लक्षण इस प्रकार से किया है—प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से यथावस्थित वस्तु स्वरूप के ग्रहण के अनन्तर "यह नित्य और यह अनित्य है" आदि अपने आशय से वस्तु के एक अंश का परामर्श नय होता है। प्रमाण द्वारा ज्ञात अर्थ का एकदेश जानना, वह नय है। यह लक्षण जितने नय विशेष हैं, उन सबमें जाता है, और वह पर-रूपों के हटाने में भी समर्थ है। इनकी संख्या अनन्त है, क्योंकि वस्तु में अनन्त

धर्म हैं। लेकिन प्राचीन आचार्यों ने नयों के सात भेद ही मुख्य रूप में माने हैं।

एक-एक नय का लक्षण

ज्ञाता के अभिप्राय विशेष को नय कहा गया है। यह नय का सामान्य लक्षण है, जो समस्त नयों में घटित होता है। अभिप्राय दूसरे को दो प्रकार से प्रकट किया जा सकता है—अर्थ द्वारा अथवा शब्द द्वारा। अर्थ दो प्रकार का होता है—सामान्य रूप तथा विशेष रूप। शब्द भी रूढ़ि अथवा व्युत्पत्ति से प्रवर्तित होता है। टीकाकार के अनुसार नय की प्राचीन आचार्यों ने यही व्याख्या की है।

परस्पर में विशकलित, सामान्य और विशेष को ग्रहण करने वाला विचार नैगम नय है। केवल सामान्य को ग्रहण करने वाला विचार संग्रह नय है। लोक व्यवहार के अनुसार विशेष को ग्रहण करने वाला विचार व्यवहार नय है। पदार्थ की वर्तमान पर्याय को ग्रहण करने वाला विचार ऋजु सूत्र नय है। रूढ़ि से शब्दों की प्रवृत्ति को ग्रहण करने वाला विचार शब्दनय है। व्युत्पत्ति से शब्दों की प्रवृत्ति को ग्रहण करने वाला विचार समभिरूढ़ नय है। वर्तमानकालीन व्युत्पत्ति को निमित्त करके शब्दों की प्रवृत्ति को ग्रहण करने वाला विचार एवंभूत नय है।

नैगम नय में, न्याय-वैशेषिक मत का समावेश हो जाता है। संग्रह नय में वेदान्त और सांख्य का समावेश होता है। व्यवहार नय में चार्वाक मत का समावेश होता है! ऋजुसूत्र नय में बौद्ध मत का अन्तर्भाव होता है। शब्द नयों में वैयाकरण और मीमांसक मतों का अन्तर्भाव हो जाता है।

नयों का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

१. **नैगम नय**—गम का अर्थ है, जानना। नि का अर्थ है, निश्चित रूप से जानना। 'निगम्यन्ते निश्चित रूपेण ज्ञायन्ते अर्थाः, इति निगमाः। निगम में होने वाला जो अभिप्राय, वह नैगम होता है।

२. **संग्रह नय**—संगृण्हाति, इति संग्रहः। जो संग्रह करता है, वह संग्रह है।

३. **व्यवहार नय**—व्यवहरति, इति व्यवहारः जो लोक रूढ़ि के अनुसार व्यवहार करने वाला, व्यवहार।

४. **ऋजुसूत्र नय**—ऋजुं सूत्रयति, सरलं सूचयति। अतीत तथा

अनागत वक्र हैं, वर्तमान ऋजु अर्थात् सरल है, उसकी सूचना करने वाला ऋजुसूत्र।

५. शब्द नय—शब्दयति, इति शब्दः। जो विचार शब्द के अनुसार पर्यायवाचक शब्दों का एक ही अर्थ करता है, वह शब्द नय है। जिस अभिप्राय से अर्थ बुलाया जाता है, यह शब्द की निरुक्ति अर्थात् व्युत्पत्ति मानी जाती है। शब्दयते आहूयते, अनेन अभिप्रायेण, अर्थः इति निरुक्तात्।

६. समभिरूढ़ नय—समभिरूढ़यति, इति समभिरूढ़ः। सम् का अर्थ है—एकीभावपूर्वक। एकीभावपूर्वक जो अभिप्राय शब्द की प्रवृत्ति में व्युत्पत्ति का निमित्त होता है, वह समभिरूढ़ नय है। संज्ञा भेद से भी अर्थ भेद हो जाता है।

७. एवंभूत नय—एवं शब्द का अर्थ होता है, प्रकार। एवं अर्थात् जैसा व्युत्पादित है, उस प्रकार को भूतः अर्थात् प्राप्त जो शब्द वह एवंभूत नय है। वर्तमान क्रिया विशिष्ट अर्थ को ग्रहण करने वाला विचार।

प्रमाण-नय-तत्त्वालोक में नय

प्रमाण-नय-तत्त्वालोक एक सूत्रात्मक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ रत्न न्याय शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। आचार्य देवसूरि एवं वादिदेव सूरि की अमर कृति है। अष्ट परिच्छेदों में विभक्त है। इसका विषय है—प्रमाण, नय और वाद। मूल सूत्रों की संख्या ३७७ है। आचार्य वादिदेव या देवसूरि ने स्वयं सूत्रों पर विशाल भाष्य लिखा है, जिसका नाम स्याद्वाद रत्नाकर है, और जिसका श्लोक परिमाण ८४ हजार है। जैन, बौद्ध और वैदिक न्याय तथा दर्शन का गहन अध्ययन, इस एक ही विशाल ग्रन्थ से समग्र रूप में सम्पन्न हो जाता है, एक भी विषय शेष नहीं रह पाता। एक ही ग्रन्थ से भारत के समग्र दर्शन को समझना हो, तो यही एकमात्र ग्रन्थ है। आचार्य के शिष्य रत्नसिंह सूरि ने संक्षिप्त-रुचि लोगों के लिए सूत्रों पर रत्नाकरावतारिका ग्रन्थ की चारु रचना की है। अद्भुत ग्रन्थ हैं, दोनों ही।

मूल सूत्रों की भाषा मधुर, रुचिर और सुन्दर है। न्याय जैसे कर्कश विषय को मधुर भाषा ने मधुर काव्य का रूप प्रदान किया है। भाष्य और टीका की भाषा, शैली तथा भाव अत्यन्त रुचिकर हैं। जैन न्याय का यह सर्वाधिक सुन्दर ग्रन्थ है। परीक्षामुख अधूरा है, क्योंकि उस में नय और वाद का विषय नहीं है। मीमांसा ग्रन्थ अर्थात् आचार्य हेमचन्द्र सूरि कृत प्रमाण-मीमांसा अपूर्ण उपलब्ध है।

नयों का लक्षण

प्रमाण-नय-तत्त्वालोक के सप्तम परिच्छेद में नयों के लक्षण नयाभासों के लक्षणों का प्रतिपादन किया गया है। नय का सामान्य लक्षण आचार्य वादिदेव सूरि ने इस प्रकार किया है—

श्रुत ज्ञान द्वारा परिज्ञात पदार्थ का एक धर्म, अन्य धर्मों को गौण करके, जिस अभिप्राय से जाना जाता है, वक्ता का वह अभिप्राय, नय होता है।

श्रुत ज्ञान रूप प्रमाण अनन्तधर्मात्मक वस्तु को ग्रहण करता है। तद्गत अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म को जानने वाला ज्ञान, नय कहा जाता है। नय जब वस्तु के एक धर्म को जानता है, तब शेष रहे हुए धर्म भी उस वस्तु में रहते हैं, किन्तु उनको गौण कर दिया जाता है। अतः वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य करके उसे ग्रहण करने वाला, ज्ञान ही वस्तुतः नय कहा गया है।

नयाभासों का लक्षण

अपने अभिप्रेत अंश के अतिरिक्त अन्य अंशों का अपलाप करने वाला ज्ञान, नयाभास कहा गया है। नयाभास का यह सामान्य लक्षण है।

अनन्त धर्मात्मक वस्तु के धर्मों में से किसी एक धर्म को ग्रहण करके शेष समस्त धर्मों का अभाव मानने वाला ज्ञान ही नयाभास है। वस्तु के एक अंश को जो ग्रहण करता है, और अन्य अंशों का अपलाप अथवा विरोध करता है, दूसरों की उपेक्षा करता है, वह नयाभास कहा जाता है।

नय के भेद-प्रभेद

आचार्य वादिदेव सूरि ने नय के दो भेद माने हैं—व्यास नय और समास नय। व्यास नय के अनेक भेद हैं। समास नय के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। व्यास का अर्थ है--विस्तार। समास का अर्थ है—संक्षेप। व्यास की अपेक्षा नय के अनन्त भेद हो सकते हैं; क्योंकि जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं। जैसे पुद्गल एक वस्तु है, उसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श आदि अनन्त धर्म हैं। समास की अपेक्षा नय के भेद होते हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। जो ज्ञान द्रव्य को मुख्य रूप में ग्रहण करता है, वह द्रव्य नय होता है। जो ज्ञान पर्याय को मुख्यरूप में ग्रहण करता है। वह पर्याय नय होता है।

आचार्य ने द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद माने हैं—नैगम नय, संग्रह नय और व्यवहार नय। प्राचीन परम्परा भी यही रही है।

आचार्य वादिदेव सूरि, आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के उत्तरकाल भावी हैं, फिर भी उन्होंने दिवाकर के षड्भेदवाद को स्वीकार न करके सात भेदवादी प्राचीन आगम परम्परा को ही स्वीकार किया है। आगमों में, तत्वार्थ सूत्र में और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकृत विशेषावश्यक भाष्य में सप्त नयवाद को ही माना है। इन सभी ने नैगम नय को स्वतन्त्र नय माना है। षड्नयवाद के जन्मदाता स्वयं आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ही माने जाते हैं।

नैगम नय

जिस विचार के अनुसार दो धर्मों की, दो धर्मियों की तथा धर्म और धर्मी की गौण—मुख्य भाव से विवक्षा की जाती है, तथा इस प्रकार अनेक मार्गों से वस्तु का परिज्ञान कराने वाला नैगम नय कहा गया है। इस लक्षण में तीन अंश हैं—धर्म, धर्मी और उभय धर्म-धर्मी। दो धर्मों में से किसी एक धर्म की प्रधानता, दूसरे की गौणता होगी। दो धर्मियों में से एक की प्रधानता दूसरे की गौणता होगी। धर्म और धर्मी में से किसी एक की प्रधानता, दूसरे की गौणता होगी। जैसे कि—

१. आत्मा में, सत् चैतन्य है। यहाँ पर आत्मा में दो धर्म हैं—सत् और चैतन्य। सत्वयुक्त चैतन्य कहने से सत् गौण हो गया और चैतन्य मुख्य हो गया। यह नैगम नय हो गया।

२. पर्याय वाला द्रव्य वस्तु है। यहाँ दो धर्मी हैं—वस्तु और द्रव्य। पर्यायवत् द्रव्य गौण है, और वस्तु प्रधान हो गया। यह भी नैगम नय है।

३. विषयों में आसक्त जीव क्षण भर को ही सुखी होता है। फिर दुःख ही दुःख है। यहाँ पर जीव धर्मी है, और क्षण सुख धर्म है। जीव मुख्य है और सुख गौण है। यह भी नैगम नय है।

जहाँ पर दो धर्मों में से एक धर्म की मुख्य रूप से विवक्षा करना और दूसरे धर्म की गौण रूप से विवक्षा करना, वहाँ नैगम नय होता है। दो द्रव्यों में से एक की मुख्य, और दूसरे की गौण रूप से विवक्षा करना, तथा धर्म एवं धर्मी में से एक की मुख्य रूप में और दूसरे की गौण रूप में विवक्षा करना, वहाँ नैगम नय होता है। यह नय अनेक मार्गों से वस्तु का परिज्ञान करता है। अतः न एक गम, नैगम कहा जाता है।

प्रथम उदाहरण में, चैतन्य धर्म मुख्य है, और सत्त्व को चैतन्य का विशेषण करके गौण कर दिया गया है। द्वितीय उदाहरण में, पर्यायवत् द्रव्य को गौण करके वस्तु की मुख्य रूप में विवक्षा की है। तृतीय उदाहरण में, जीव मुख्य है और सुखी विशेषण गौण पड़ गया है। विशेष्य मुख्य होता है, और विशेषण गौण हो जाता है।

नैगमाभास

दो धर्मों का, दो धर्मियों का और धर्म तथा धर्मी का एकान्त भेद करना, नैगमाभास है। अनेकान्तवाद के अनुसार, दो धर्मों में, दो धर्मियों में तथा धर्म और धर्मी में एकान्त भेद नहीं होता। कथंचित् भेद ही हो सकता है। एकान्त भेद को मानने वाला नैगम नय नहीं होता, नैगमाभास कहा जाता है। जैसे कि आत्मा में सत्त्व और चैतन्य को सर्वथा पृथक् मानना। दोनों में कथंचित् भेद हो सकता है, सर्वथा भेद नहीं हो सकता है। जैसे हेत्वाभास, हेतु का दोष माना गया है, वैसे ही नैगम का आभास, नैगम नय का दोष है। नैगमाभास में नैगम न होकर, नैगम जैसा आभास होता है, नैगम का भ्रम हो जाता है।

संग्रह नय

जो विचार सामान्य-विशेषात्मक वस्तु के सामान्य अंश को ग्रहण करता, और विशेष अंश की उपेक्षा कर देता है, वह संग्रह नय कहा जाता है। उसके दो भेद हैं—पर संग्रह और अपर संग्रह। यह नय विशेष की ओर ध्यान न देकर, केवल एक सत्ता-रूप पर-सामान्य को तथा अवान्तर सत्ता-रूप द्रव्य एवं जीवत्व आदि अपर सामान्य को ही ग्रहण करता है। सामान्य के दो भेद होने से संग्रह नय के भी दो भेद हो जाते हैं।

आचार्य ने पर संग्रह का लक्षण इस प्रकार किया है—अशेष विशेषों की ओर उदासीनता रख कर, एक मात्र शुद्ध द्रव्य सन्मात्र को ही ग्रहण करने वाला विचार। इसी को पर संग्रह कहते हैं। जैसे समग्र विश्व एक है, सब में सत्ता होने से। पर सामान्य को महासत्ता कहा गया है। महासत्ता की अपेक्षा समस्त संसार एक है। क्योंकि एक भी पदार्थ सत्ता-शून्य नहीं है। यह पर संग्रह का कथन है।

पर संग्रह नयाभास

पर संग्रह नयाभास की परिभाषा इस प्रकार है—जो अभिप्राय एकान्त सत्ता मात्र को ही ग्रहण करता हो, और घट-पट आदि विशेषों का

निषेध करता हो, वह पर संग्रह नयाभास होता है। जैसे कि जगत में सत्ता ही एक मात्र वस्तु है, उससे भिन्न घट-पट आदि विशेष की सत्ता नहीं है। पर संग्रह नय और संग्रह नयाभास दोनों ही एक मात्र सत्ता को स्वीकार करते हैं, फिर भी दोनों में अन्तर यह है, कि पर संग्रह नय विशेष का निषेध नहीं करता, और पर-संग्रह नयाभास विशेषों का एकान्त रूप से निषेध ही करता है। दूसरे अंश की उपेक्षा करना, नय है। दूसरे अंश का निषेध, आभास है। इसका उदाहरण है—वेदान्त दर्शन। जैन दर्शन के अनुसार वेदान्त दर्शन पर-सग्रह नयाभास माना गया है। क्योंकि वह एक मात्र सत्ता ब्रह्म के अतिरिक्त सबका एकान्त निषेध करता है।

आचार्य वादिदेव सूरि ने अपर संग्रह नय का लक्षण इस प्रकार किया है—जो विचार द्रव्यत्व आदि अवान्तर सामान्य को मानता हो, और उसके भेदों की उपेक्षा करता हो, वह अपर-संग्रह नय होता है। जैसे कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—ये सब द्रव्य एक हैं, क्योंकि सब में द्रव्यत्व व्याप्त है। द्रव्यत्व रूप में सब द्रव्य एक हैं। अपर संग्रह नय, अपर सामान्य को विषय करता है। इस नय की दृष्टि में, द्रव्यत्व एक होने से सभी द्रव्य एक होते हैं।

अपर संग्रह नयाभास

जो विचार द्रव्यत्व आदि अपर सामान्य को मान कर भी उनके भेदों का निषेध करता हो वह अपर संग्रह नयाभास है। जैसे द्रव्यत्व ही वास्तविक है, उससे भिन्न धर्म आदि द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती है। यह अपर संग्रह नयाभास अपर सामान्य के भेदों का निषेध करता है। अतः उसकी गणना नयाभासों में की जाती है।

व्यवहार नय

आचार्य ने व्यवहार नय का लक्षण करते हुए कहा है, कि वक्ता का जो अभिप्राय, सग्रह नय द्वारा ज्ञात अर्थात् विषयीकृत सामान्य रूप पदार्थों में, विधिपूर्वक भेद करता हो, वह व्यवहार नय होता है। जैसे कि जो सत् होता है, अर्थात् जो सत्तावान् पदार्थ है, वह द्रव्य होगा या पर्याय होगा। संग्रह नय द्वारा संगृहीत सामान्य में भेद करने वाला, व्यवहार कहा जाता है। क्योंकि केवल सामान्य के आधार पर लोक व्यवहार नहीं चलता। लोक व्यवहार के लिए विशेषों की आवश्यकता पड़ती है। जाति से काम नहीं चलता, उसके लिये व्यक्ति आवश्यक है। दूध की आवश्यकता की पूर्ति

गोत्व सामान्य नहीं करता, उसके लिए गो व्यक्ति अनिवार्य होता है। अतः सामान्य में भेद करना आवश्यक होता है। संग्रह नय ने सत्ता रूप अभेद को स्वीकार किया, लेकिन व्यवहार नय ने उसके दो भेद कर दिये--द्रव्य और पर्याय। यह व्यवहार नय है।

व्यवहार नयाभास

जो विचार द्रव्य और पर्याय का अपारमार्थिक विभाग स्वीकार करता है, वह व्यवहार नयाभास है। जैसे कि बृहस्पति का चार्वाक दर्शन। द्रव्य और पर्याय में वास्तविक भेद मानना, व्यवहार नय है, और भेद न मानना, व्यवहार नयाभास है। चार्वाक दर्शन द्रव्य और पर्याय में भेद को नहीं मानता, जो कि वस्तुतः वास्तविक है, किन्तु जो अवास्तविक भूत चतुष्टय है, उसको मानता है। अतः चार्वाक दर्शन व्यवहार नयाभास है।

ऋजुसूत्र नय

द्रव्यार्थिक नयों का भेद-प्रभेद करके आचार्य ने पर्यायार्थिक नयों के भेद-प्रभेद इस प्रकार प्रारम्भ किये हैं। पर्यायार्थिक नय के चार प्रकार हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत। चार में से प्रथम ऋजुसूत्रनय का लक्षण आचार्य ने इस प्रकार किया है—

जो विचार, पदार्थ की वर्तमान-क्षण में होने वाली पर्याय को ही मुख्य रूप से ग्रहण करता है, वह ऋजुसूत्र नय कहा जाता है। जैसे कि इस समय जीव की सुख रूप पर्याय। द्रव्य को गौण करके मुख्य रूप से पर्याय को ही ग्रहण करने वाला नय, पर्यायार्थिक नय कहा गया है। ऋजुसूत्रनय पर्याय को ही प्रधान रूप से ग्रहण करता है। यहाँ पर सुख पर्याय की मुख्यता है, और उसका आधारभूत जीव द्रव्य गौण हो गया है।

ऋजुसुत्र नयाभास

जो विचार द्रव्य का एकान्तरूप में अपलाप अर्थात् निषेध करता है, वह ऋजुसूत्र नयाभास है। जैसे कि बौद्ध दर्शन। ऋजुसूत्र द्रव्य को अप्रधान करके पर्याय को प्रधानता प्रदान करता है। लेकिन ऋजुसूत्र नयाभास तो द्रव्य का सर्वथा ही अपलाप अर्थात् निषेध करता है। वह पर्याय को ही वास्तविक मानता है। पर्यायों में अनुस्यूत द्रव्यत्व का निषेध करता है। अतः बौद्ध दर्शन क्षणवादी होने से ऋजुसूत्र नयाभास कहा गया है।

शब्द नय

आचार्य वादिदेवसूरि का कथन है, कि काल और कारक आदि के भेद से ध्वनि के अर्थ में, भेद करने वाला विचार, शब्द नय होता है। यह

नय शब्द के भेद से अर्थ का भेद करता है। वाचक के भेद से वाच्य में भेद स्वीकार करता है जैसे कि मेरुगिरि था, है और होगा अर्थात् रहेगा। शब्द नय के तीन भेद हैं—शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत। तीनों शब्द को प्रधान मानकर उसके वाच्य अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। इसी कारण आचार्य ने तीनों को शब्द नय कहा है।

शब्द नय काल, कारक, लिंग तथा वचन के भेद से अर्थ का भेद मानता है। मेरुगिरि का अस्तित्व तीनों काल में बताया गया है। अतः वे एक न होकर अनेक हैं। यहाँ कालकृत भेद है। मेरु एक नहीं, तीन हैं—अतीत का, अनागत का और वर्तमान का। लिंग भेद जैसे तटः तटी तटम्। वचन भेद जैसे दारा, परिग्रह, कलत्रम् आदि।

शब्द नयाभास

जो विचार काल आदि के भेद से शब्द के अर्थ में एकान्त भेद स्वीकार करता है, वह शब्द नयाभास होता है। शब्दनय पर्याय-दृष्टि वाला है। वह द्रव्य को अमुख्य करके भिन्न-भिन्न पर्यायों को मुख्य मानता है। लेकिन शब्द नयाभास द्रव्य का सर्वथा निषेध करने के कारण नयाभास है।

समभिरूढ नय

जो विचार पर्याय वाचक शब्दों में, निरुक्ति-भेद से अर्थात् व्युत्पत्ति भेद से भिन्न अर्थ का कथन करने वाला है, समभिरूढ नय होता है। जैसे कि इन्दन होने से इन्द्र, शकन होने से शक्र और पुर का विदारण करने से पुरन्दर होता है।

शब्द नय काल के भेद से शब्द का अर्थ भेद मानता है। समभिरूढ नय काल का भेद न होने पर भी पर्याय वाचक शब्दों के भेद से अर्थ-भेद मान लेता है। इन्द्र, शक्र और पुरन्दर एकार्थवाचक हैं, किन्तु व्युत्पत्ति-भेद से भिन्न-भिन्न हैं। समभिरूढ नय अर्थ सम्बन्धो अभेद को गौण मानकर, पर्यायभेद से अर्थभेद मानता है।

समभिरूढ नयाभास

जो विचार एकान्त रूप में, पर्यायवाचक शब्दों के वाच्य अर्थ में भेद मानता है, वह समभिरूढ नयाभास है। समभिरूढ नय पर्यायभेद से अर्थभेद मानता है, परन्तु वह अभेद का निषेध नहीं करता। उसे गौण कर देता है। समभिरूढ नयाभास पर्यायवाचक शब्दों के अर्थ में रहने वाले अभेद का एकान्त निषेध करता है, और एकान्त भेद का कथन करता है।

इसी आधार पर उसको समभिरूढ नयाभास कहा गया है। जैन दर्शन अनेकान्त को स्वीकार करता है, एकान्त को नहीं। फिर भले वह एकान्त विचार का हो, अथवा शब्द का हो।

एवंभूत नय

जो विचार, शब्दों की प्रवृत्ति की निमित्त रूप क्रिया से युक्त पदार्थ को उस शब्द का वाच्य मानता हो, वह एवंभूत नय कहा गया है। जैसे इन्दन क्रिया का अनुभव करने वाला इन्द्र, शकन क्रिया में परिणत शक्र और पुरदारण क्रिया में प्रवृत्त पुरन्दर होता है। यह एवंभूत नय प्रत्येक शब्द को क्रिया शब्द मानता है। प्रत्येक शब्द से किसी न किसी क्रिया का अर्थ प्रकट होता है। जैसे पाचक शब्द से पाक क्रिया का बोध होता है। जब व्यक्ति पका रहा है, तभी वह पाचक होता है। अन्य काल में वह पाचक नहीं होता। यही भाव एवंभूत नय कहा जाता है। यह उसका स्वरूप है।

एवंभूत नयाभास

जो विचार, क्रिया शून्य वस्तु को उस शब्द का वाच्य मानने का निषेध करने वाला हो, वह एवंभूत नयाभास है। जैसे विशेष प्रकार की चेष्टा से शून्य घट नामक वस्तु घट शब्द का वाच्य नहीं है। क्योंकि वह घट शब्द की प्रवृत्ति का कारणरूप क्रिया से शून्य है, जैसे कि पट आदि। एवंभूत नय क्रिया से युक्त पदार्थ को ही उस क्रिया-वाचक शब्द से कथित करता है, किन्तु अपने से भिन्न का निषेध नहीं करता। जो विचार एकान्त रूप से क्रिया युक्त पदार्थ को ही शब्द का वाच्य मानने के साथ उस क्रिया से रहित वस्तु को उस शब्द के वाच्य होने का निषेध करता है, वह एवंभूत नयाभास कहा गया हैं। आभास मिथ्या ज्ञान।

अर्थनय और शब्दनय

सात नयों में प्रथम के चार नय तो अर्थनय कहे जाते हैं। क्योंकि ये चारों ही अर्थ का निरूपण करते हैं। अतः अर्थनय हैं। अन्त के तीन नय शब्दनय कहलाते हैं। क्योंकि ये तीनों शब्द के वाच्य अर्थ को ग्रहण करने वाले हैं। किस शब्द का वाच्य क्या होता है? इसका कथन करते हैं। अतः तीनों शब्दनय कहे जाते हैं।

नयों में अल्पबहुत्व

आचार्य वादिदेव सूरि सप्त नयों के सम्बन्ध में कहते हैं, कि पूर्व-पूर्व नय विशाल विषय होते हैं। उत्तर-उत्तर नय अल्प विषय होते हैं।

नयों की यह अपनी मर्यादा होती है। यह एक प्रकार की व्यवस्था है। पूर्व-पूर्व नय स्थूल होता है, और उत्तर-उत्तर नय सूक्ष्म होता जाता है। सबसे अधिक सूक्ष्म एवंभूत नय है। सबसे अधिक स्थूल नैगम नय होता है। इसको अल्पत्व-बहुत्व कहते हैं।

नय सप्तभंगी

सप्तभंगी का अर्थ है—सात विकल्पों का समुदाय। भंग का अर्थ है—विकल्प। अतः सप्तभंगी शब्द पारिभाषिक शब्द है। इसका प्रयोजन एवं प्रयोग जैन दर्शन में होता है। सप्तभंगी न्याय स्याद्वाद का आधार है। इसके दो भेद हैं—प्रमाण सप्तभंगी और दूसरी है, नय सप्तभंगी।

प्रमाण वाक्य के समान नय वाक्य भी अपने विषय में प्रवृत्त होकर, विधि और निषेध की विवक्षा से सप्तभंगी को प्राप्त होता है। नय वाक्य का अर्थ है—विकलादेश। जिस प्रकार विधि-निषेध की अपेक्षा से प्रमाण सप्त भंगी बनती है, उसी प्रकार नय सप्त भंगी भी बनती है। नय सप्त भंगी में भी 'स्यात् तथा एव' पद लगाया जाता है। प्रमाण सप्त भंगी सकल वस्तु को प्रकाशित करती है, और नय सप्त भंगी वस्तु के एक धर्म को ही प्रकाशित कर सकती है। अतः एक सकलादेश है और दूसरी विकलादेश कही जाती है।

नय का फल

जैसे प्रमाण का फल होता है, वैसे ही नय का भी फल होता है। आचार्य का कथन है कि प्रमाण के समान नय के फल की भी व्यवस्था होनी चाहिए। प्रमाण का साक्षात्फल अज्ञान की निवृत्ति माना गया है। वही फल नय का भी माना जाना चाहिए। प्रमाण से वस्तु सम्बन्धी अज्ञान दूर होता है और नय से वस्तु के अंश सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होती है। उपादान-बुद्धि, हान-बुद्धि और उपेक्षा-बुद्धि भी नय के परोक्ष फल होते हैं। नय का फल नय से कथंचित् भिन्न भी होता है, और कथंचित् अभिन्न भी होता है। अनेकान्त दर्शन में एकान्त भिन्नत्व और एकान्त अभिन्नत्व नहीं होता है।

जैन तर्क भाषा में नय

जैन तर्क भाषा उपाध्याय यशोविजयजी की एक अत्यन्त सुन्दर एवं रुचिर कृति है। यह एक लघु ग्रन्थ है। तीन भागों में विभक्त है—प्रमाण, नय और निक्षेप। तीनों विषय जैन दर्शन के मूलभूत आधार माने जाते

हैं। संयोगवश इस प्रकार के ग्रन्थों का अब अध्ययन एवं अध्यापन होने लगा है।

जैन तर्क भाषा में, पाँच ज्ञान और चार निक्षेपों का जो वर्णन उपाध्याय यशोविजयजी ने किया है, उसका मूल आधार विशेषावश्यक भाष्य है। प्रमाण और नयों का प्रतिपादन, प्रमाणनयतत्त्वालोक तथा स्याद्वाद रत्नाकर के आधार पर है। जैन तर्क भाषा की मुख्य विशेषता यह है, कि इस में आगमिक और तार्किक दोनों परम्पराओं का सुन्दर समन्वय समुपलब्ध होता है। यह ग्रन्थ संक्षिप्त होने पर भी अपने प्रतिपाद्य विषय का काफी स्पष्टीकरण करता है। यह इस की मुख्य विशेषता है।

नयवाद जैन दर्शन की मौलिक देन है। इस का मुख्य सम्बन्ध व्यवहार के साथ है। मनुष्य एक ही वस्तु को स्वार्थ के आधार पर विभिन्न दृष्टिकोण से देखता है। एक ही व्यक्ति को मुख्य रूप में मनुष्य, ब्राह्मण, देवदत्त और अध्यापक आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। काव्य-शास्त्र में शब्द की अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा एवं व्यञ्जना को भी माना गया है। जैन दर्शन में सामान्यग्राही तथा विशेषग्राही दृष्टियों का विभाजन नयों में है।

नयों के भेद

श्रुत प्रमाण के द्वारा गृहीत अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एकदेश धर्म को ग्रहण करने वाला, किन्तु उस गृहीत धर्म से इतर धर्मो का निषेध या विरोध न करने वाला अभिप्राय नय कहा जाता है। प्रमाण अनन्त धर्मात्मक समस्त वस्तु का ग्राहक होता है, जबकि नय केवल एक धर्म को ग्रहण करता है। इस कारण नय, प्रमाण का एक अंश है। जैसे कि सागर का एक अंश, न सागर कहा जा सकता है, और न असागर ही कहा जा सकता है, वैसे ही नय, न प्रमाण है, और न अप्रमाण, वह तो केवल प्रमाण का एक अंश भर ही हो सकता है।

नय के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। प्रधान रूप से केवल द्रव्य को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक है, और प्रधान रूप से पर्याय मात्र को ग्रहण करने वाला पर्यायार्थिक है।

द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं—नैगम, संग्रह और व्यवहार। पर्यायार्थिक के चार भेद हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय। लेकिन जिनभद्रगणि क्षमा-श्रमण के मत से ऋजुसूत्र नय, द्रव्यार्थिक नय

का ही भेद है। अन्य सभी आचार्य ऋजुसूत्र नय को पर्यायार्थिक नय का ही भेद स्वीकार करते हैं। उनका अनुसरण अन्य किसी भी आचार्य ने नहीं किया है। यह उन का स्वयं का अभिमत है। दिगम्बर परम्परा भी ऋजु-सूत्र नय को पर्यायार्थिक का भेद मानती है।

सप्त भंगी न्याय

जैन दर्शन का सर्वाधिक गम्भीर एवं गहन विषय है, सप्त भंगी न्याय। भंग का अर्थ है, विकल्प। सात विकल्पों के समुदाय को सप्त भंगी कहा गया है। उसका आधार है, तर्क-शास्त्र। अतः इस को सप्त भंगी न्याय कहा जाता है। सात ही भंग होते हैं—न कम होते हैं, न अधिक होते हैं।

किसी भी एक वस्तु के एक-एक धर्म सम्बन्धी प्रश्न के अनुरोध से 'स्यात् अथवा कथंचित्' शब्द से युक्त सात प्रकार का वचन प्रयोग सप्त भंगी कहा जाता है। विवक्षाओं की भिन्नता के आधार पर वचन प्रयोग, इस प्रकार किया जाता है, कि उस में परस्पर विरोध न हो। किसी में विधि की कल्पना होती है। किसी में निषेध की कल्पना होती है। किसी में विधि और निषेध, दोनों की कल्पना होती है।

एक वस्तु के एक पर्याय में, सात प्रकार के ही धर्म सम्भव हैं—कम अथवा अधिक नहीं। अतः सात प्रकार के ही संशय उत्पन्न होते हैं। क्यों कि जिज्ञासा सात प्रकार ही होती है। अतएव प्रश्न सात प्रकार के होते हैं, उनके उत्तर रूप भंग भी सात ही होते हैं। यही सप्त भंगी का स्वरूप कहा गया है। जहाँ प्रमाण, नय और निक्षेप का वर्णन किया जाता है, वहाँ सप्तभंगी न्याय का वर्णन भी आवश्यक होता है। यहाँ पर सप्तभंगी का संक्षेप में, परिचय इस प्रकार है—

१. **प्रथम भंग**—कथंचित् घट है। स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से घट है।

२. **द्वितीय भंग**—कथंचित् घट नहीं है। पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से घट नहीं है।

३. **तृतीय भंग**—कथंचित् घट है, नहीं है। स्व की अपेक्षा से है, किन्तु पर की अपेक्षा से नहीं है।

४. **चतुर्थ भंग**—कथंचित् घट अवक्तव्य है। किसी एक पद से एक साथ अस्ति नास्ति का कथन नहीं हो सकता।

५. **पञ्चम भंग**—कथंचित् घट है, लेकिन वह अवक्तव्य है।
६. **षष्ठ भंग**—कथंचित् घट नहीं है, लेकिन अवक्तव्य है।
७. **सप्तम भंग**—कथंचित् घट है, नहीं है, लेकिन अवक्तव्य है।

१. विधि	२. निषेध
३. विधि-निषेध उभय	४. अवक्तव्य
५. विधि, अवक्तव्य	६. निषेध, अवक्तव्य
७. विधि, निषेध, अवक्तव्य।	

सप्त भंगी दो प्रकार की है—सकलादेश और विकलादेश। प्रमाण सप्त भंगी और नय सप्त भंगी। इस प्रकार जैन तर्क भाषा में, प्रमाण और प्रमाणाभास, नय और नयाभास, सप्तभंगी, संक्षेप में इनका वर्णन किया है। निक्षेपों का भी वर्णन किया है।

परीक्षा-मुख में नय

दिगम्बर परम्परा के प्रसिद्ध नैयायिक आचार्य माणिक्यनन्दी-कृत सूत्रात्मक न्याय ग्रन्थ परीक्षामुख, एक सुन्दर कृति है। उस पर एक विशाल भाष्य है, प्रमेय कमल मार्तण्ड। यह आचार्य प्रभाचन्द्र की कृति है। उस पर एक लघु टीका है, आचार्य अनन्तवीर्य विरचित प्रमेय-रत्न माला। प्रस्तुत ग्रन्थ में वैदिक और बौद्ध न्याय का अनुसरण किया है। जिस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर वेदान्त और सांख्य का प्रभाव है, उसी प्रकार परीक्षामुख ग्रन्थ पर भी प्राचीन वैदिक न्याय तथा बौद्ध न्याय पद्धति का प्रभाव परिलक्षित होता है। क्योंकि धर्मकीर्तिकृत न्याय-बिन्दु के सूत्रों का इस पर प्रभाव है। बौद्ध न्याय में हेतु-मुख तथा न्याय मुख जैसे मुखान्त ग्रन्थ हैं, माणिक्यनन्दी ने उन्हीं का अनुसरण किया है।

परीक्षामुख में, प्रमाण और प्रमाणाभासों का लम्बा और विस्तृत वर्णन किया गया है। किन्तु नय, निक्षेप और वाद के विषय में, वर्णन नहीं किया गया। मूल सूत्रों में उनका उल्लेख तक भी नहीं किया, जबकि जैन दर्शन के ये विशेष विषय समझे जाते हैं। प्रमेयरत्नमाला में, इस कमी की पूर्ति का प्रयास किया गया है। परीक्षामुख का आधार आचार्य अकलंक देव के लघीयस्त्रय, न्याय-विनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय और प्रमाण संग्रह आदि ग्रन्थ माने जाते हैं। आचार्य अकलंक देव जैन न्याय ही नहीं, समग्र भारतीय न्याय के परम विद्वान् थे।

नयों के भेद

आचार्य अनन्तवीर्य ने प्रमेयरत्नमाला में, नयों के मूल भेद दो

माने हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। प्रधानतया द्रव्य की विवक्षा करने वाले नय को द्रव्यार्थिक कहते हैं। प्रधानतया पर्याय की विवक्षा करने वाले नय को पर्यायार्थिक कहते हैं। द्रव्यार्थिक के तीन भेद हैं—नैगम, संग्रह और व्यवहार। पर्यायार्थिक के चार भेद होते हैं। जैसे कि ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत।

आचार्य ने सात नयों का और उनके सात आभासों का भी वर्णन किया है। आभासों का लक्षण पीछे दिया जा चुका है।

नयों को समझने का दृष्टान्त

प्रमेय-रत्न-माला टीका के टिप्पणकार ने एक बहुत सुन्दर रूपक दिया है, जैसे कि—

कहीं पर किसी पक्षी के शब्द को सुनकर नैगम नय की दृष्टि से कहा जाएगा, कि गाँव में पक्षी बोल रहा है। संग्रह नय कहेगा, कि वृक्ष पर पक्षी बोल रहा है। व्यवहार नय कहेगा, कि विटप पर पक्षी बोल रहा है। ऋजुसूत्र नय कहेगा, कि शाखा पर पक्षी बोल रहा है। शब्द नय कहेगा, कि घोंसले में पक्षी बोल रहा है। समभिरूढ़ नय कहेगा, कि वह अपने शरीर में बोल रहा है। एवंभूत नय कहेगा, कि वह अपने कण्ठ में बोल रहा है।

जिस प्रकार यहाँ पक्षी के बोलने के प्रदेश को लेकर उत्तरोत्तर क्षेत्र विषयक सूक्ष्मता है, उसी प्रकार सातों नयों के विषय में उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयता समझनी चाहिए।

आचार्य माणिक्यनन्दी

परीक्षामुख सूत्र न्याय विषय का प्रारम्भिक सूत्रात्मक ग्रन्थ है। सूत्र सरल एवं सुबोध हैं, परन्तु इसमें प्रमाण-नय-तत्त्वालोक जैसी विषय की व्यापकता नहीं है। नय जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर, जो जैन दर्शन की अपनी विशेषता है, उस पर कुछ भी नहीं लिखा, जबकि जैन तर्क-भाषा जैसे लघु ग्रन्थ में भी उपाध्याय यशोविजयजीने नय तथा उनके आभासों पर खूब लिखा है। फिर भी परीक्षामुख प्रमाण विषयक एक सुन्दर कृति है।

प्रमाण-मीमांसा

प्रमाण-मीमांसा आचार्य हेमचन्द्र की अमर रचना कही जा सकती है। सूत्रों की रचना और उन पर विस्तृत वृत्ति की रचना भी आचार्य ने स्वयं की है। मूलकार भी स्वयं हैं, और वृत्तिकार भी स्वयं हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों का विशद वर्णन किया गया है। लेकिन आचार्य की यह

अमर कृति अपूर्ण ही रही। अनुमान का भी पूरा वर्णन नहीं हो सका। आगम प्रमाण तक रचना पहुँची ही नहीं। अतः इसमें सप्त भंगी न्याय और नयों का तथा उनके आभासों का वर्णन नहीं हो सका। फिर भी उनकी वृत्ति में दो मूल नयों का उल्लेख है—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। उनकी विशेष व्याख्या का वहाँ प्रसंग भी नहीं था। आचार्य हेमचन्द्र श्वेताम्बर परम्परा के महान् श्रुतधर हैं।

न्याय दीपिका

अभिनव धर्मभूषण यति की यह एक लघु कृति। लेकिन विषय का प्रतिपादन संक्षिप्त होने पर भी स्पष्ट और सुन्दर है। धर्मभूषण दिगम्बर परम्परा के थे। प्रमाण के लक्षण, प्रत्यक्ष और परोक्ष, इसके मुख्य विषय हैं। किन्तु इसमें नयों का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन किया है। मूल नय दो मान कर उनके भेदों का उल्लेख है। लेकिन वह वर्णन उलझन भरा है। उसमें विषय की स्पष्टता नहीं की जा सकी।

आलाप पद्धति

यह नय विषयक एक सुगम और सुबोध कृति है। इस लघु कृति में काफी विषय को समेट लिया गया है। इसके रचनाकार आचार्य देवसेन हैं। दिगम्बर परम्परा के आचार्य हैं। इस कृति में प्रमाण का भी वर्णन है, किन्तु मुख्य तो नयों का वर्णन है। भाषा अत्यन्त सरल है।

आचार्य देवसेन ने नयों का वर्णन दो दृष्टियों से किया है—दार्शनिक दृष्टि और अध्यात्म दृष्टि। मूल नय दो माने हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। पहले के तीन भेद हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार। दूसरे के चार भेद हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत।

अध्यात्म दृष्टि से नयों के मूल में दो भेद हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय। निश्चय के दो भेद हैं—शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय। व्यवहारनय के दो भेद हैं—सद्भुत और असद्भूत। सद्भूत के दो भेद हैं—उपचरित और अनुपचरित। इस प्रकार देवसेन ने अपने लघु ग्रन्थ में नयों का जमकर वर्णन किया है। विषय कहीं पर भी अधूरा नहीं रहा।

जैन दर्शन का मुख्य विषय वस्तुतः नय है, जिस पर अनेकान्तवाद का और स्याद्वाद का भव्य रमणीय प्रासाद खड़ा है। अतः अनेकान्त को समझने के लिए नयवाद को समझना, आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। यह जैन दर्शन का मुख्य तत्व है।

निक्षेप-पद्धति

निक्षेप-सिद्धान्त

मनुष्य अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग करता है। बिना भाषा के अथवा बिना शब्द प्रयोग के वह अपने विचारों की अभिव्यक्ति भली-भाँति नहीं कर पाता। पशु की अपेक्षा मनुष्य की यह विशेषता है, कि वह अपने विचारों की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से कर लेता है। यह एक सत्य है, कि जगत् का कोई भी व्यवहार, बिना भाषा के चल नहीं सकता। अतः परस्पर के व्यवहार को सुचारु रूप से चलाने के लिए भाषा का सहारा और शब्द प्रयोग का माध्यम मनुष्य को पकड़ना पड़ता है। संसार में हजारों प्रकार की भाषाएँ हैं, और उन भाषाओं के शब्द हजारों ही प्रकार के हैं। प्रत्येक भाषा के शब्द अलग-अलग ही होते हैं। भाषा के ज्ञान के लिए शब्द ज्ञान आवश्यक है, और शब्द ज्ञान के लिए भाषा-ज्ञान भी आवश्यक है। भाषा अवयवी है, और शब्द उसके अवयव हैं। व्याकरण शास्त्र के अनुसार अवयवी के ज्ञान के लिए अवयव का ज्ञान परमावश्यक होता है। भाषा-ज्ञान के लिए शब्दों का ज्ञान भी नितान्त आवश्यक होता है।

हम किसी भी भाषा का उचित प्रयोग तभी कर सकेंगे, जब कि उसके शब्दों का उचित प्रयोग करना हम सीख लेंगे। किस समय पर और किस स्थिति में, किस शब्द का प्रयोग कैसे किया जाता है, और वक्ता के अभिप्राय को कैसे समझा जाता है ? यह एक बहुत बड़ा सिद्धान्त है। शब्द प्रयोग के आधार पर वक्ता के अभिप्राय को ठीक रूप में समझ लेना, जैन दर्शन में, निक्षेपवाद कहा जाता है। निक्षेप का दूसरा नाम, न्यास भी है। निक्षेप और न्यास को जैन दर्शन में बड़ा महत्व मिला है। निक्षेप सिद्धान्त को समझने के लिए भाषा के शब्दों को और उन शब्दों के अर्थों को ठीक

रूप में समझना आवश्यक है। जैन दर्शन के अनुसार निक्षेप का लक्षण यह है, कि शब्दों का अर्थों में, और अर्थों का शब्दों में, आरोप करना, अर्थात् न्यास करना। एक शब्द के सम्भावित अर्थों का पता लगाना, और उन अर्थों में शब्द का प्रयोग करना।

व्याकरण और निक्षेप

संस्कृत व्याकरण के अनुसार शब्द अनेक प्रकार के होते हैं। जैसेकि नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। घट, पट आदि नाम शब्द हैं। पठति, गच्छति आदि आख्यात अर्थात् क्रिया शब्द हैं। प्र, परा, उप आदि उपसर्ग और निपात शब्द हैं। इन चार प्रकार के शब्दों में, निक्षेप का सम्बन्ध केवल नाम से है। अन्य शब्दों के साथ निक्षेप का सम्बन्ध नहीं होता। क्यों नहीं होता? इसके उत्तर में कहा गया है, कि आख्यात, उपसर्ग और निपात शब्द वस्तुवाचक नहीं होते हैं। निक्षेप का सम्बन्ध उसी शब्द से रहता है, जो वस्तुवाचक होता है। व्याकरण के अनुसार वस्तुवाचक शब्द नाम ही होता है। अतः उक्त चार प्रकार के शब्दों में से निक्षेप का सम्बन्ध केवल नाम के साथ ही है।

निक्षेप और नय

भारत के अन्य दर्शनों में, वैदिक और बौद्ध दर्शनों में, निक्षेप और नय का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। दर्शनों में, जैन दर्शन की अपनी ही यह एक मौलिकता है। प्रत्येक दर्शन की अपनी मौलिकता होती है। जैन दर्शन को निक्षेप और नय, क्यों स्वीकार करने पड़े? इस प्रश्न का एक ही उत्तर है, कि जैन दर्शन, अनेकान्त दर्शन रहा है, वह एकान्तवाद को स्वीकार नहीं करता। एकान्त नित्यवाद तथा एकान्त क्षणवाद को वह नहीं मानता। कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य को मानता है। अनेकान्त दर्शन की व्याख्या, बिना प्रमाण, बिना नय और बिना निक्षेप को समझे, नहीं की जा सकती। अतः निक्षेप और नय का विशेष प्रतिपादन, जैन दर्शन में किया गया है। प्रमाण का प्रतिपादन तो अन्य दर्शनों में भी बहुलता से हुआ है।

परिभाषा और प्रयोग

जब तक किसी वस्तु की परिभाषा को न समझा जाये, तब तक उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। अतः निक्षेप की परिभाषा को समझना परम आवश्यक है। वक्ता के अभिप्राय को ठीक से समझने की पद्धति को ही निक्षेप कहा गया है। किसी भी शब्द एवं वाक्य का अर्थ करते

समय वक्ता का अभिप्राय क्या है ? कौन-सा अर्थ संगत है ? यह निश्चित करने को ही निक्षेप कहा गया है। यही निक्षेप की परिभाषा है, यही उसका उपयोग है। परिभाषा और उपयोग के बाद ही प्रयोग किया जाता है। उसका प्रयोग करने से पूर्व उसके प्रयोजन को भी समझना आवश्यक हो जाता है।

निक्षेप का प्रयोजन

निक्षेप का प्रयोजन क्या है ? इसका समाधान श्वेताम्बर परम्परा के महान् दार्शनिक, महान् नैयायिक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने स्व-विरचित सन्मति-सूत्र के प्रथम काण्ड की छठी गाथा में इस प्रकार किया है—

"नाम, स्थापना और द्रव्य—ये द्रव्यास्तिक नय के निक्षेप हैं। भाव, पर्यायास्तिक नय की प्ररूपणा है, यही परमार्थ है।" इन निक्षेपों का प्रयोजन यह है, कि लोक में प्रत्येक वस्तु का चार प्रकार से व्यवहार होता पाया जाता है। श्रद्धान आदि का और जीव आदि का द्रव्य एवं भाव के द्वारा निक्षेप होता है। अखण्ड तथा अनिर्वचनीय वस्तु को व्यवहार में लाने के लिए उसमें भेद-कल्पना करने को निक्षेप कहा गया है। यह भेद-कल्पना, शब्द, ज्ञान और अर्थ रूप में की जाती है। शब्दात्मक व्यवहार के लिए ही वस्तु का नामकरण किया जाता है, जैसे कि वर्धमान, महावीर और सन्मति आदि। ज्ञानात्मक व्यवहार के लिए स्थापना की जाती है। अर्थात्मक व्यवहार के लिए द्रव्य तथा भाव निक्षेप का कथन किया जाता है। द्रव्य, गुण, जाति और क्रिया आदि निमित्तों की अपेक्षा से शब्द का प्रयोग किया जाता है। निक्षेप का प्रयोजन है, शब्द का यथार्थ अर्थ समझकर, उसका प्रयोग करना।

निक्षेप-सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक शब्द के कम से कम चार अर्थ अवश्य ही होते हैं। वैसे एक शब्द के अधिक अर्थ भी हो सकते हैं, और होते भी हैं, किन्तु यहां पर निक्षेप का वर्णन अभीष्ट है, अतः शब्द कोष के अनुसार शब्द का अर्थ ग्रहण न करके यहाँ पर केवल निक्षेप सिद्धान्त के अनुसार ही शब्द का अर्थ ग्रहण करना है। एक बड़े ही महत्व का प्रश्न यह है, कि निक्षेप के सिद्धान्त का उद्देश्य क्या है ? और उसका जीवन में उपयोग क्या है ? उक्त प्रश्न के समाधान में कहा गया है, कि अप्रस्तुत अर्थ का निराकरण करके प्रस्तुत अर्थ को बतलाना। जैसे किसी ने कहा, कि गुरु तो मेरे हृदय में है। यहाँ पर गुरु शब्द का अर्थ, गुरु व्यक्ति का ज्ञान

लेना होगा, क्योंकि देहधारी गुरु किसी के हृदय में कैसे रह सकता है ? अतः उक्त वाक्य में गुरु का ज्ञान, यह अर्थ प्रस्तुत है, न कि स्वयं गुरु व्यक्ति। निक्षेप का सबसे बड़ा उपयोग यह है, कि वह अप्रस्तुत अर्थ को दूर करके प्रस्तुत अर्थ का ज्ञान करा देता है। निक्षेप की उपयोगिता केवल शास्त्र में ही नहीं, बल्कि मनुष्य के दैनिक व्यवहार में भी रहती है। बिना निक्षेप के मनुष्य का व्यवहार चल नहीं सकता।

वाच्य-वाचक सम्बन्ध

संसार के जीवों का समग्र व्यवहार पदार्थ के आश्रित रहता है। पदार्थ एक नहीं अनन्त हैं। उन समग्र पदार्थों का व्यवहार एक साथ नहीं हो सकता। यथावसर प्रयोजन-वशात् अमुक किसी एक पदार्थ का ही व्यवहार होता है। अतः जिस उपयोगी पदार्थ का ज्ञान हम करना चाहते हैं, उसका ज्ञान शब्द के आधार से ही किया जा सकता है। किन्तु किस शब्द का क्या अर्थ है, यह कैसे जाना जाए ? वस्तुतः इसी प्रश्न का समाधान, निक्षेप सिद्धान्त है।

व्याकरण के अनुसार, शब्द और अर्थ परस्पर सापेक्ष होते हैं। शब्द को अर्थ की अपेक्षा रहती है और अर्थ को शब्द की अपेक्षा रहती है। यद्यपि शब्द और अर्थ दोनों स्वतन्त्र पदार्थ हैं, तथापि उन दोनों में एक प्रकार का सम्बन्ध माना गया है। इस सम्बन्ध को वाच्य-वाचक सम्बन्ध कहा जाता है। शब्द वाचक है और अर्थ वाच्य है। वाच्य-वाचक सम्बन्ध का ज्ञान होने पर ही शब्द का उचित प्रयोग किया जा सकता है। इस दृष्टि से निक्षेप का सिद्धान्त एक वह सिद्धान्त है, जिससे शब्द के अर्थ को समझने की कला का परिज्ञान होता है। निक्षेप एक पद्धति है।

वाचक उमास्वाति ने स्वरचित तत्वार्थ सूत्र के प्रथम अध्याय के पंचम सूत्र में, निक्षेप के चार प्रकार कहे हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। चारों की मिलकर निक्षेप संज्ञा है। निक्षेप का अर्थ है—फैंकना तथा न्यास करना, रखना। शब्द को चार अर्थों में फैंकना। किसी भी सार्थक शब्द का अर्थ विचारना हो, तो उसको इन चारों का आधार लेकर ही किया जा सकता है, जिससे वक्ता के विचार को सही समझा जा सके। जैसे कि एक शब्द है, राजा। इसका वाक्य प्रयोग इस प्रकार हो सकता है—राजा आ रहा है। 'आ रहा है' क्रियापद है, उसका कर्ता राजा है। राजा शब्द के चार अर्थ हैं—

१. नाम राजा	२. स्थापना राजा
३. द्रव्य राजा	४. भाव राजा

जो नाम भर का राजा हो, वह नाम राजा है। राजा का चित्र, राजा की मूर्ति, राजा की प्रतिकृति को स्थापना राजा कहा जाता है। जो वर्तमान क्षण में राजा न हो, किन्तु अतीत में रह चुका हो, अथवा अनागत में होगा, उसको द्रव्य राजा कहते हैं। जो वर्तमान क्षण में, राज-पद का अनुभव करता हो, जो राज्य सिंहासन पर स्थित हो, उसको भाव राजा कहा गया है।

निक्षेप में नय-योजना

मूल नय दो हैं—द्रव्यास्तिक नय तथा पर्यायास्तिक नय। नयों के अन्य भेद तथा प्रभेद, इन दो का ही विस्तार है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मति-सूत्र में कहा, कि मूल नय दो ही हैं, शेष इनका विस्तार है। प्रथम के दो भेद हैं—संग्रह नय और व्यवहार नय। द्वितीय के चार भेद हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। दोनों के मिलाकर नय के षड् भेद होते हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने नैगम नय को स्वीकार नहीं किया। उसका समावेश संग्रह एवं व्यवहार में हो जाता है।

शास्त्र और लोक के वाक्यों में, पर्याय विशेष का वचन प्रतिपादित किया जाता है। सब प्रकार का वचन क्रम सामान्य और विशेष अथवा द्रव्यास्तिक एवं पर्यायास्तिक, उभय नय पर आश्रित है। वस्तुस्थिति न केवल द्रव्यास्तिक नय ही है, और न केवल पर्यायास्तिक नय रूप ही है। वह तो उभय रूप है। यही है, अनेकान्त दर्शन। एकान्त दर्शन एक दृष्टि-कोण को लेकर चलता है, दूसरे दृष्टिकोण का निषेध करता है। अतः जैन दर्शन के अनुसार, एकान्त दर्शन, मिथ्यादर्शन होता है। अनेकान्त दर्शन, सम्यग्दर्शन होता है। प्रत्येक वस्तु जब अनन्तधर्मात्मक है, तब उसका एक धर्म लेकर ही उसे सम्पूर्ण मान लेना, एकान्तवाद है। अनेकान्तवाद वस्तु के अन्य धर्मों को स्वीकार करता है।

नय की सीमा

अनेकधर्मात्मक वस्तु का किसी एक धर्म के आधार पर विचार करना, नय कहलाता है। वह नय सात प्रकार का है—नैगम, संग्रह, व्यव-हार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। नयों में भारतीय दर्शन की समस्त एकान्तवादी परम्पराओं का समावेश हो जाता है। जैसे कि संग्रह में सांख्य का, परम संग्रह में वेदान्त का, व्यवहार में चार्वाक का,

ऋजुसूत्र में बौद्ध का और शब्द में व्याकरण आदि का समावेश सहज हो जाता है।

आवश्यकनिर्युक्ति में

आवश्यकनिर्युक्ति के नय द्वार में सात मूल नयों के नाम तथा लक्षण दिये गये हैं, तथा यह भी बताया गया है, कि प्रत्येक नय के शताधिक भेद-प्रभेद हो सकते हैं। जिन-मत में एक भी सूत्र, अथवा उसका अर्थ ऐसा नहीं है, जिसका नय दृष्टि के बिना विचार हो सकता हो। अतएव नय-विशारद का यह कर्तव्य है कि वह श्रोता की योग्यता को देखकर नय का कथन करे, उसे समझाये।

व्याख्या शैली

आगमों के शब्दों तथा वाक्यों की व्याख्या शैली का प्राचीन नाम-निर्युक्ति एवं निक्षेप पद्धति, होता है। यह व्याख्या पद्धति बहुत प्राचीन है। इस पद्धति में, किसी एक पद के सम्भावित अनेक अर्थ करने के बाद उनमें से अप्रस्तुत अर्थों का निषेध करके प्रस्तुत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। जैन न्याय पद्धति में, निक्षेप पद्धति का बहुत महत्व रहा है। निक्षेप पद्धति के आधार पर किये जाने वाले शब्दार्थ के निर्णय निश्चय का नाम ही निर्युक्ति है। आवश्यक निर्युक्ति में कहा गया है, कि एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु कौन-सा अर्थ किस प्रसंग के लिए उपयुक्त होता है, भगवान् महावीर के उपदेश के समय कौन-सा अर्थ किस शब्द से सम्बद्ध रहा है, इन बातों को ध्यान में रखते हुए सम्यक् रूप से अर्थ-निर्णय करना, और उस अर्थ का मूल सूत्र के शब्दों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना—यही निर्युक्ति का प्रयोजन माना गया है। निक्षेप भी एक प्रकार की व्याख्या शैली मानी जाती है। निर्युक्ति और निक्षेप, दोनों का उपयोग एवं प्रयोग, आगम में होता है।

प्रमाण, नय और निक्षेप

प्रमेयों के परिज्ञान के लिए प्रमाण की परम आवश्यकता है। लेकिन साथ में नय और निक्षेप को भी आवश्यकता है। प्रमाण समस्त वस्तु का ज्ञान करता है, ज्ञान विषयी होता है, वस्तु उसका विषय है। नय से किसी भी वस्तु का एक धर्म ग्रहण होता है। अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने वाला ज्ञान, नय है। निक्षेप वस्तु को व्यवहार योग्य बनाता है। किस शब्द से वक्ता का क्या अभिप्राय, किस अर्थ में वक्ता ने शब्द का प्रयोग किया है ? इसका परिज्ञान बिना निक्षेप के कदापि नहीं हो सकता है। अतः निक्षेप की परम आवश्यकता होती है।

निक्षेप के भेद

निक्षेप के कितने प्रकार हैं ? इसके उत्तर में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि किसी भी वस्तु-विन्यास के जितने क्रम हो सकते हैं, उतने ही निक्षेप होते हैं। परन्तु कम से कम चार निक्षेप माने जाते हैं। जैसे कि नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। नाम का अर्थ है—संज्ञा अथवा संकेत। स्थापना का अर्थ है—आरोपणा अर्थात् आरोप करना। द्रव्य का अर्थ है—वस्तु विशेष। भाव का अर्थ है—वर्तमान पर्याय विशेष।

नाम निक्षेप

किसी व्यक्ति का अथवा किसी वस्तु का अपनी इच्छा के अनुसार नाम रख देना ही नाम निक्षेप है। जैसे किसी मनुष्य का नाम उसके माता एवं पिता ने 'इन्द्र' रख दिया। यहाँ पर इन्द्र शब्द का जो अर्थ है, वह अपेक्षित नहीं है, बल्कि एक संज्ञा मात्र ही है। नाम निक्षेप में, जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया की आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि यह नाम तो केवल लोक व्यवहार चलाने के लिए ही होता है। नामकरण संकेत मात्र से किया जाता है। यदि नाम के अनुसार, उसमें गुण भी हों, तब वह नाम निक्षेप न कहलाकर, भाव निक्षेप कहलायेगा। भाव निक्षेप उसी को कहा जाता है, जिसमें तदनुकूल गुण भी विद्यमान होते हों।

स्थापना निक्षेप

किसी वस्तु की किसी अन्य वस्तु में, यह परिकल्पना करना कि यह वह है, स्थापना निक्षेप कहा जाता है। जो पदार्थ तद्रूप नहीं है, उसे तद्रूप मान लेना ही स्थापना निक्षेप है। उसके दो भेद हैं—

१. तदाकार स्थापना २. अतदाकार स्थापना

किसी मूर्ति अथवा किसी चित्र में, व्यक्ति के आकारानुरूप स्थापना करना, तदाकार की स्थापना है। शतरंज आदि के मोहरों में, अश्व, गज आदि की जो अपने आकार से रहित कल्पना की जाती है, उसे अतदाकार स्थापना कहा जाता है। नाम और स्थापना, दोनों यथार्थ अर्थ से शून्य होते हैं।

द्रव्यनिक्षेप

अतीत अवस्था, अनागत अवस्था और अनुयोगदशा—ये तीनों विवक्षित क्रिया में, परिणत नहीं होते। इसी कारण इन्हें द्रव्यनिक्षेप कहा जाता है। जैसे जब कोई कहता है, कि राजा तो मेरे हृदय में है तब उसका अर्थ होता है—राजा का ज्ञान मेरे हृदय में है। क्योंकि देहधारी राजा का कभी

किसी के हृदय में रहना सम्भव नहीं है। यह अनुपयोग दशा है। द्रव्यनिक्षेप के अन्य दो उदाहरण हैं, कि जो पहले कभी राजा रहा है, किन्तु वर्तमान में राजा नहीं है, उसे राजा कहना, अतीत द्रव्य निक्षेप है।

वर्तमान में जो राजा नहीं है, किन्तु भविष्य में जो राजा बनेगा, उसे वर्तमान में राजा कहना, अनागत द्रव्य निक्षेप है। उक्त द्रव्य निक्षेप का अर्थ है—जो अवस्था अतीत काल में हो चुकी हो, अथवा भविष्य काल में होने वाली हो, उसका वर्तमान में कथन करना। यह द्रव्य निक्षेप है। जीव के सम्बन्ध में, यह भंग घटित नहीं होता। अतः उसे शून्य कहा गया है। जीव विशेष की अपेक्षा से इस भंग को घटाने का भी प्रयत्न किया गया है।

भाव निक्षेप

वर्तमान पर्याय-परिणत वस्तु को भाव निक्षेप कहा गया है। जैसे राज्य सिंहासन पर स्थित व्यक्ति को राजा कहना। भाव निक्षेप की दृष्टि में, राजा वही व्यक्ति हो सकता है, जो वर्तमान में राज्य कर रहा हो। इसके विपरीत जो व्यक्ति पहले राज्य कर चुका है, अथवा भविष्य में राज्य करेगा, किन्तु वर्तमान में वह राज्य नहीं कर रहा है, तो भावनिक्षेप उसे राजा नहीं मानता।

निक्षेप के अनुसार, राजा शब्द के चार अर्थ होते हैं—नाम राजा, स्थापना राजा, द्रव्य राजा और भाव राजा। किसी व्यक्ति का नाम राजा रख देना, नाम राजा है। किसी राजा के चित्र को अथवा मूर्ति को राजा कहना, अथवा किसी भी पदार्थ में, यह राजा है, इस प्रकार की परिकल्पना करना यह स्थापना राजा है। द्रव्य राजा उसे कहा जाता है, जो वर्तमान में तो राजा नहीं है, किन्तु अतीत में रह चुका है, अथवा भविष्य में राजा बनेगा। भाव राजा वह है, जो वर्तमान में, राज्य पद पर स्थित है, और राज्य का संचालन कर रहा है।

नाम और स्थापना

नाम निक्षेप में और स्थापना निक्षेप में क्या अन्तर है? क्योंकि नाम निक्षेप में किसी व्यक्ति का कुछ भी नाम रख दिया जाता है, और स्थापना निक्षेप में भी मूर्ति और चित्र आदि में नाम रख दिया जाता है। इसके समाधान में कहा गया है, कि नाम और स्थापना में इतना ही भेद है, कि नाम निक्षेप में आदर और अनादर बुद्धि नहीं रहती, जबकि स्थापना निक्षेप में आदर और अनादर बुद्धि की जाती है।

कल्पना करो, एक व्यक्ति किसी नदी में से गोल पत्थर उठा लाया, और उसने उसमें शालिग्राम की स्थापना कर ली, उस स्थिति में वह व्यक्ति उसमें आदर बुद्धि भी रखता है। शास्त्रीय रहस्य को समझने के लिए ही निक्षेप सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है, बल्कि लोक-व्यवहार की उलझनों को सुलझाने के लिए भी निक्षेप की आवश्यकता रहती है। अतः निक्षेप का ज्ञान परम आवश्यक हो जाता है। वक्ता के सही अभिप्राय को इसके बिना नहीं समझा जाता।

नय और निक्षेप में भेद

नय और निक्षेप में क्या भेद है? इसके उत्तर में कहा गया है कि नय और निक्षेप में विषय और विषयी भाव सम्बन्ध है। नय ज्ञानात्मक है, और निक्षेप ज्ञेयात्मक। निक्षेप को जानने वाला नय है। शब्द और अर्थ में जो वाच्य-वाचक सम्बन्ध है, उसके स्थापना की क्रिया का नाम, निक्षेप है, और वह नय का विषय है, तथा नय उसका विषयी है। प्रथम के तीन निक्षेप, द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं, और अन्तिम भाव निक्षेप, पर्यायार्थिक नय का विषय है। निक्षेप की यह पद्धति, मूल आगमों में, निर्युक्तियों में तथा भाष्यों में, प्रयुक्त होती रही है। दर्शन और न्यायशास्त्र में इसका प्रयोग बहुत कम हुआ है।

शब्द और अर्थ की पद्धति

निक्षेप शब्द जैन आगमों में प्रयुक्त होने वाला एक पारिभाषिक शब्द है। यह शब्द एवं अर्थ को समझने की एक पद्धति विशेष है। किस अवसर पर किस शब्द का क्या अर्थ करना, और उस अर्थ के अनुसार कैसा व्यवहार करना, इस कला को निक्षेप कहा गया है। शब्दों का प्रयोग कैसे करना, यही तो निक्षेप प्रक्रिया का तात्पर्य है। शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं। वक्ता के अभिप्राय को समझना कठिन होता है, उसको सरल करने की कला ही वस्तुतः निक्षेप तथा अनुयोग कहा जाता है। बिना इनके शास्त्र का अर्थ नहीं किया जा सकता। निक्षेप, भाषा और भाव की संगति करता है। शब्द बिना अर्थ का नहीं होता, और अर्थ भी बिना शब्द का नहीं होता। शब्द वाचक है, और अर्थ वाच्य है। वाचक हो, और वाच्य न हो, यह तो सम्भव ही नहीं। वाक् और अर्थ दोनों साथ ही रहते हैं, कभी अलग नहीं हो सकते।

श्वेताम्बर तथा दिगम्बर

दोनों परम्पराओं में, ज्ञान, प्रमाण, नय, सप्तभंगी, स्याद्वाद और

अनेकान्तवाद के निरूपण में, किसी प्रकार का विभेद नहीं है। लेकिन निक्षेप के विषय में वैसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि दोनों के पास आगम-परम्परा एक नहीं रही है। निक्षेप का प्रयोग एवं उपयोग, आगम व्याख्या में ही अधिक होता है। आगम दोनों के भिन्न हैं। अतः निक्षेप की परिभाषा और उसके भेद-प्रभेदों में काफी अन्तर आ गया है। दोनों के दार्शनिक ग्रन्थों में निक्षेप का प्रतिपादन बहुत विरल हुआ है, और न्याय-शास्त्र के ग्रन्थों में तो नाममात्र का ही वर्णन है। तत्त्वार्थ सूत्र के भाष्य में, जो कि तत्त्वार्थ सूत्र की सबसे प्राचीन व्याख्या है, और स्वयं उमास्वाति की कृति है, उसमें निक्षेप का निरूपण है, तथा सर्वार्थसिद्धि में भी वर्णन उपलब्ध है। न्याय ग्रन्थों में आचार्य अकलंकदेव के लघीयस्त्रय में एक पूरा परिच्छेद है, और वाचक यशोविजयकृत जैन तर्क-भाषा में भी एक परिच्छेद है। शेष न्याय ग्रन्थों में इस विषय की उपेक्षा कर दी है, अथवा अनुपयोगी समझा है।

अनुयोगद्वार सूत्र में निक्षेप

अनुयोगद्वार सूत्र में निक्षेप के चार भेद हैं—नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप। मुख्य भेद चार ही हैं।

नाम निक्षेप के तीन भेद हैं—यथार्थ नाम, अयथार्थ नाम और अर्थ-शून्य नाम। नाम के अनुसार गुण हो, तो यथार्थ नाम। नाम के अनुसार गुण न हो, तो अयथार्थ नाम। जिसका कोई अर्थ ही न निकलता हो, वह अर्थ-शून्य नाम।

स्थापना निक्षेप के चालीस भेद हैं—जो इस प्रकार के कहे जाते हैं—

१. काष्ठ की स्थापना।	२. चित्र की स्थापना।
३. मोती की स्थापना।	४. मिट्टी की स्थापना।
५. ग्रन्थि की स्थापना।	६. कसीदे की स्थापना।
७. कोरणी की स्थापना।	८. वस्तु की स्थापना।
९. अकस्मात् स्थापना।	१०. पट की स्थापना।

इन दसों के आकार के बीस भेद हैं—इन बीसों की सद्भाव स्थापना, और असद्भाव स्थापना करना, इस प्रकार चालीस भेद होते हैं।

जो पदार्थ आगामी परिणाम की योग्यता रखने वाला हो, उसे उस अवस्था से संबोधित करना जैसे राजा के पुत्र को राजा कहना, यह द्रव्य

निक्षेप है। अतीत और अनागत पर्याय के कारण को भी द्रव्य निक्षेप कहा जाता है। उसके दो भेद हैं—

१. आगम द्रव्य निक्षेप।

२. नो आगम द्रव्य निक्षेप।

आगम का पठन-पाठन तो करे, परन्तु न तो उसका अर्थ समझे, और न उपयोगपूर्वक पढ़े अथवा बोले, शून्य चित्त से तोता रटन कर ले, वह आगम द्रव्य निक्षेप है।

नो आगम द्रव्य निक्षेप के तीन भेद हैं -

१. ज्ञायक शरीर द्रव्य निक्षेप।

२. भव्य शरीर द्रव्य निक्षेप।

३. ज्ञायक-शरीर, भव्य-शरीर, तद् व्यतिरिक्त द्रव्य निक्षेप।

१. एक श्रावक आवश्यक सूत्र का ज्ञाता था, वह मरण को प्राप्त हो गया। उसका शरीर पड़ा है। उसे देखकर यह कहना, कि यह आवश्यक सूत्र का ज्ञाता था। यह ज्ञायक शरीर द्रव्य निक्षेप है।

२. श्रावक के घर पुत्र जन्मा। उसको देखकर कहना, कि यह आवश्यक सूत्र का ज्ञाता होगा। यह भव्य-शरीर नो आगम द्रव्य निक्षेप है।

३. ज्ञायक-शरीर, भव्य-शरीर और तद् व्यतिरिक्त द्रव्य निक्षेप के तीन भेद हैं—

१. लौकिक।

२. लोकोत्तर।

३. कुप्रावचनिक।

१. राजा, सेठ एवं सेनापति आदि द्वारा सभा में बैठकर, अवश्य करने योग्य कार्यों का किया जाना। यह लौकिक तद् व्यतिरिक्त द्रव्य निक्षेप है।

२. जो नाम से तो साधु है, पर उसमें साधु के गुण नहीं हैं। षट्-काय के जीवों की दया नहीं करता, तप नहीं करता, उभयकाल आवश्यक करता है, वह लोकोत्तर द्रव्य निक्षेप के अनुसार है।

३. यज्ञ आदि हिंसामूलक क्रिया को करने वाला, तापस, ब्राह्मण एवं पाखण्ड मार्ग पर चलने वाला, मिथ्यात्वी देवों की भक्ति करने वाला, धूप दीप करने वाला, गृहस्थ धर्म को ही कल्याणकर समझने वाला, यह

कुप्रावचनिक द्रव्य निक्षेप है । ये विविध भेद द्रव्य निक्षेप के हैं । भेद और भी बहुत हैं, पर यहाँ संक्षेप से कथन किया गया है ।

जिस वस्तु का जो गुण है, गुणानुसार उसका निरूपण करना, भाव निक्षेप है । भाव निक्षेप के दो भेद हैं—

१. आगम भाव निक्षेप

२. नो आगम भाव निक्षेप

१. उपयोग पूर्वक शास्त्र पढ़ना, यही आगम से भाव निक्षेप है ।

२. नो आगम से भाव निक्षेप के तीन भेद हैं—

१. लौकिक

२. लोकोत्तर

३. कुप्रावचनिक

१. जो व्यक्ति प्रातःकाल उपयोग पूर्वक महाभारत को और मध्य बेला में, रामायण को पढ़ते हैं, अथवा सुनते हैं, उसे लौकिक नो आगम से भाव निक्षेप कहते हैं ।

२. जो श्रमण अथवा श्रावक उभयकाल उपयोगपूर्वक एवं शुद्ध आवश्यक करते हैं, उनका यही लोकोत्तर नो आगम से भाव निक्षेप है ।

३. जो व्यक्ति अर्थात् अन्धविश्वासी एवं अन्यधर्मी उपयोगपूर्वक एवं शुद्ध तथा अर्थ सहित ॐ आदि का जप तथा ध्यान करते हैं, उनका यह कुप्रावचनिक नो आगम भाव निक्षेप है । इस प्रकार अनुयोगद्वार सूत्रगत निक्षेप का स्वरूप तथा उसके प्रभेदों का संक्षेप में ही प्रतिपादन किया गया है ।

तत्वार्थ सूत्र में निक्षेप

वाचक उमास्वाति ने स्व-विरचित ग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय प्रथम, सूत्र पाँच में चार निक्षेपों का वर्णन किया है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । इन चार निक्षेपों से सम्यग्दर्शन तथा जीव आदि का न्यास अर्थात् निक्षेप होता है ।

लोक में, अथवा आगम में, जितना शब्द व्यवहार होता है, वह कहाँ और किस अपेक्षा से किया जा रहा है ? इस समस्या को सुलझाना ही निक्षेप व्यवस्था का काम है । प्रयोजन के अनुसार एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हैं ।

महाभारत में, 'अश्वत्थामा हतः', युधिष्ठिर के इतना कहने भर से युद्ध की दिशा में परिवर्तन हो गया । इससे ज्ञात होता है, कि एक ही

शब्द प्रसंगानुसार विविध अर्थों का जताने वाला हो जाता है। इस प्रकार यदि एक शब्द के मुख्य अर्थ देखे जाएँ, तो चार होते हैं। ये ही चार अर्थ उस शब्द के अर्थ की दृष्टि से चार भेद हैं। इसी को न्यास एवं निक्षेप कहते हैं। इनको जान लेने से प्रकृत अर्थ का बोध होता है, और अप्रकृत अर्थ का निराकरण होता है। निक्षेप के चार भेद इस प्रकार हैं—

१. नाम निक्षेप—जिसमें व्युत्पत्ति की प्रधानता नहीं, किन्तु जो इतर लोगों के संकेत बल से जाना जाता है, वह अर्थ नाम निक्षेप का विषय है। जैसे माता-पिता ने अपने पुत्र का सेवक नाम रख दिया। किन्तु उसमें सेवा का गुण नहीं है।

२. स्थापना निक्षेप—जो वस्तु असली वस्तु की प्रतिकृति, मूर्ति या चित्र है, जिसमें असली वस्तु का आरोप किया गया है, वह स्थापना निक्षेप का विषय है। जैसे गाँधीजी का चित्र।

३. द्रव्य निक्षेप—जो अर्थ, भाव का पूर्व या उत्तर रूप हो, वह द्रव्य निक्षेप का विषय है। जो वर्तमान में, सेवा नहीं कर रहा है, किन्तु कर चुका है, अथवा करेगा, वह द्रव्य सेवक होता है।

४. भाव निक्षेप—जिस अर्थ में, शब्द का व्युत्पत्ति या प्रवृत्ति निमित्त वर्तमान में, घटमान हो, वह भाव निक्षेप का विषय है। जो वर्तमान में सेवा कार्य में संलग्न है, वह भाव सेवक होता है। इनमें से प्रारंभ के तीन निक्षेप, सामान्य रूप होने से द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं, और भाव पर्याय रूप होने से पर्यायार्थिक नय का विषय है।

व्यवहार और भाषा

समस्त व्यवहार का मुख्य साधन भाषा है। किसको क्या देना और किससे क्या लेना, इस प्रकार का जो व्यवहार है, वह बिना भाषा सम्भव नहीं है। गुरु अपने शिष्य को ज्ञान देता है, शिष्य उसे ग्रहण करता है, वह भी भाषा के बिना नहीं हो सकता है। भाषा शब्दों से बनती है, शब्द पदों से बनते हैं, और पद अक्षरों से बनते हैं। अतः अक्षर, पद, शब्द, वाक्य और भाषा। यही विकास का क्रम रहा है। एक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। कम से कम चार अर्थ तो हैं ही। ये ही चार निक्षेप, न्यास और विभाग कहे जाते हैं। प्रसिद्ध नाम निक्षेप है।

शब्दों के भेद

शब्दों के अनेक भेद होते हैं। जैसे कि संज्ञा शब्द, आख्यात शब्द और धातु शब्द अर्थात् क्रिया शब्द तथा निपात शब्द। शब्द के दो भेद भी

होते हैं— यौगिक और रूढ़। तीसरा भेद भी हो सकता है—योग-रूढ़। वाचक और कुम्भकार आदि यौगिक शब्द हैं। गाय और घोड़ा आदि रूढ़ शब्द हैं। पचति, इति पाचक, तथा कुम्भं करोति, इति कुम्भकारः। इन शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त है। ये शब्द क्रिया के आश्रय से बने हैं, वह क्रिया शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त कही जाती है। पाचक और कुम्भकार आदि शब्दों में पाक क्रिया और घटन क्रिया को व्युत्पत्ति निमित्त समझना चाहिए।

यौगिक शब्दों में, व्युत्पत्ति का निमित्त ही उनकी प्रवृत्ति का निमित्त बनता है। लेकिन रुढ़ शब्दों के विषय में यह बात नहीं है। रूढ़ शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर व्यवहृत नहीं होते, रूढ़ि के अनुसार ही उनका अर्थ होता है। जैसे कि गाय और घोड़ा—इन शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं होती, रूढ़ि के अनुसार ही उनका प्रयोग किया जाता है। व्युत्पत्ति के अनुसार उनका प्रयोग नहीं होता। आकृति और जाति ही रूढ़ शब्दों के व्यवहार का निमित्त है। अतः आकृति और जाति को उस प्रकार के शब्दों का व्युत्पत्ति निमित्त नहीं, लेकिन प्रवृत्ति निमित्त ही कहा जाता है। जहाँ यौगिक शब्द विशेषण रूप हो, वहाँ व्युत्पत्ति निमित्त वाले अर्थ को भाव निक्षेप और जाति नाम जहाँ रूढ़ शब्द हो, वहाँ प्रवृत्ति निमित्त वाले अर्थ को भाव निक्षेप समझना चाहिए।

जैन सिद्धान्त दीपिका में निक्षेप

आचार्य तुलसी गणि ने स्व-प्रणीत, सूत्रात्मक तथा सवृत्ति ग्रन्थ जैन सिद्धान्त दीपिका में निक्षेप का अत्यन्त सुन्दर एवं सरल व्याख्यान किया है। ग्रन्थ के नवम प्रकाश में, निक्षेप का वर्णन इस प्रकार प्रारम्भ किया है।

"शब्दों में विशेषण द्वारा प्रतिनियत अर्थ का प्रतिपादन करने की शक्ति निहित करने को निक्षेप कहा गया है। प्रत्येक शब्द में, असंख्य अर्थों को प्रकट करने की शक्ति होती है। अप्रस्तुत अर्थ का निराकरण, और प्रस्तुत अर्थ का कथन, यह निक्षेप का प्रयोजन है। उसके चार भेद हैं, जो इस प्रकार हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

वस्तु-न्यास के जितने क्रम हैं, उतने ही निक्षेप होते हैं। कम से कम चार निक्षेप होते हैं। वे अवश्यमेव करने चाहिए।

१. जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया और लक्षण इन निमित्तों की अपेक्षा बिना संकेत मात्र से जो संज्ञा की जाती है, वह नाम निक्षेप है।

२. मूल अर्थ से शून्य वस्तु को उसी के अभिप्राय से स्थापित करने को स्थापना निक्षेप कहा है।

३. भूत और भावी अवस्था के कारण तथा अनुपयोग को द्रव्य निक्षेप कहते हैं। द्रव्य निक्षेप के दो भेद, आगम में इस प्रकार हैं--

१. आगमतः २. नो आगमतः

आगमतः द्रव्य निक्षेप—जीव आदि पदार्थों का ज्ञाता, किन्तु वर्तमान में उपयोग-शून्य। आगमतः का अर्थ है—ज्ञान की अपेक्षा से।

नो आगमतः द्रव्य निक्षेप—इसके तीन भेद हैं—ज्ञ-शरीर अर्थात् जानने वाले का शरीर, भव्य-शरीर और तद्व्यतिरिक्त।

नो आगमतः का अभिप्राय है—ज्ञान के सर्वथा अभाव और देश अभाव—दोनों का सूचक है। ज्ञ-शरीर और भव्य-शरीर में, ज्ञान का सर्वथा अभाव है तथा अनुपयुक्त अवस्था में की जाने वाली क्रिया में, ज्ञान का देशतः अभाव है।

जहाँ ज्ञ शरीर और भव्य शरीर के पूर्वोक्त लक्षण घटित नहीं होते, वहाँ तद्व्यतिरिक्त द्रव्य निक्षेप है।

४. विवक्षित क्रिया में परिणत वस्तु को भावनिक्षेप कहा जाता है। उसके दो भेद हैं—

१. आगमतः

२. नो आगमतः

उपाध्याय के अर्थ को जानने वाले तथा उस अनुभव में, परिणत व्यक्ति को आगमतः भाव उपाध्याय कहा जाता है। उपाध्याय के अर्थ को जानने वाले तथा अध्यापन क्रिया में प्रवृत्त व्यक्ति को नो आगमतः भाव उपाध्याय कहा जाता है।

निक्षेपों के परिज्ञान के बिना आगम के अर्थों को वास्तविक रूप में नहीं समझा जा सकता है। अतः प्रमाण और नयों की भाँति ही निक्षेपों का परिज्ञान परम आवश्यक है।

सन्मति-तर्क में निक्षेप

सन्मति तर्क प्रकरण अथवा सन्मति सूत्र शासन प्रभावक ग्रन्थ माना जाता है। श्वेताम्बर परम्परा के महान् आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की यह एक अमर कृति है। दूसरी कृति है, उनकी न्यायावतार-सूत्र। दोनों की रचना पद्य में की है। सन्मति सूत्र में मुख्य विषय नय और अनेकान्त का है। न्यायावतार सूत्र में प्रमाण और नय का प्रतिपादन किया गया है।

दोनों कृतियों पर श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों ने भाष्य, टीका और वृत्ति लिखी हैं। दोनों ग्रन्थ गहन गम्भीर है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने संस्कृत भाषा में, जैन न्याय का प्रथम ग्रन्थ दिया, यह उनका महान् अवदान है। अतः वे जैन न्याय के पिता एवं जनक हैं। उन्होंने प्रमाण के तीन भेद कहे हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।

सन्मति तर्क सूत्र की रचना आचार्य ने प्राकृत भाषा में की है। इसमें तीन काण्डों में भिन्न-भिन्न विषय हैं। नय और अनेकान्त, दर्शन और ज्ञान तथा द्रव्य, गुण और पर्याय। इन विषयों का इस ग्रन्थ में गहन चिन्तन किया है। श्वेताम्बर परम्परा का यह मूर्धन्य और अतिशय ग्रन्थ माना गया है। विस्तृत विवेचन के साथ इसका प्रकाशन हो चुका है—गुजराती भाषा में भी और हिन्दी भाषा में भी। पण्डितप्रवर सुखलालजी ने विवेचन किया है।

निक्षेप कथन

सन्मति सूत्र का मुख्य विषय नय है, प्रमाण और निक्षेप नहीं। प्रमाण का प्रतिपादन आचार्य ने न्यायावतार में कर दिया। नयों का प्रतिपादन सन्मति सूत्र में विस्तार से किया है। प्रथम काण्ड की छठी गाथा में आचार्य ने निक्षेप का कथन अत्यन्त संक्षेप में किया है।

उन्होंने कहा है, कि जिससे लोक का व्यवहार चलता है, उसे निक्षेप कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ का व्यवहार चार प्रकार से होता है। ये चार प्रकार हैं, चार निक्षेप—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इनमें से प्रथम तीन—नाम, स्थापना और द्रव्य, ये द्रव्यार्थिक नय के निक्षेप हैं। किन्तु जो भाव निक्षेप है, वह पर्यायार्थिक नय का निक्षेप कहा गया है। यही इनका परमार्थ है।

आगे कहा गया है, कि नाम से नाम वाला, स्थापना से स्थापना वाला, द्रव्य से द्रव्य वाला, ये परस्पर भिन्न नहीं हैं। अतः अभेद होने से तीनों द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं। परन्तु प्रत्येक समय में भाव में भिन्नता होने से भाव निक्षेप पर्याय रूप है। अतः भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नय का विषय है। द्रव्यार्थिक नय अभेद रूप तथा सामान्य कथन करता है, किन्तु पर्यायार्थिक नय का विषय भेद रूप पर्याय की विशेषताओं का कथन करना है। दोनों नय परस्पर सापेक्ष होने के कारण ही ये नय हैं। निरपेक्ष नय मिथ्या नय होते हैं।

जैन तर्क-भाषा में निक्षेप

वाचक यशोविजय विरचित जैन तर्क-भाषा एक अत्यन्त सुन्दर कृति है, जो नव्य न्याय की भाषा एवं शैली में रची गयी है। न्याय शास्त्र में तीन तर्क भाषा हैं---मोक्षाकर की बौद्ध तर्क-भाषा, केशव मिश्र की तर्क भाषा और यशोविजय उपाध्याय की जैन तर्क भाषा। प्रस्तुत ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है—प्रमाण, नय और निक्षेप। जैन तर्क भाषा में पाँच ज्ञान और चार निक्षेपों का जो वर्णन है, उसका आधार विशेषावश्यक भाष्य है। दूसरे प्रमाण और नयों का प्रतिपादन स्याद्वाद रत्नाकर के आधार पर है। जैन तर्क भाषा की मुख्य विशेषता यह है, कि इसमें आगमिक एवं तार्किक दोनों परम्पराओं का सुन्दर समन्वय मिलता है। विषय संक्षिप्त होने पर भी स्पष्ट है। जहाँ तक प्रमाण और नय का प्रश्न है, श्वेताम्बर और दिगम्बरों में किसी प्रकार का भेद नहीं है। किन्तु निक्षेप के सम्बन्ध में मान्यता एक नहीं है, दोनों में काफी भेद है। निरूपण की पद्धति भी एक नहीं है। यशोविजयजी ने यहाँ विशेषावश्यक का ही अनुसरण किया है। क्योंकि भाष्य में निक्षेपों की बड़ी लम्बी चर्चा की है। वह वर्णन बहु-आयामी और बहुमुखी है। दिगम्बर परम्परा का निक्षेप वर्णन अकलंक कृत लघीयस्त्रय तथा उसकी टीका न्याय-कुमुदचन्द्र पर आधारित है। अतः दोनों परम्पराओं में भेद स्वाभाविक है। भेद होने पर भी किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

तर्कभाषा का विषय

तर्कशास्त्र का मुख्य विषय प्रमाण माना जाता है। इसमें प्रमाण का स्वरूप, लक्षण, भेद और फल आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। प्रमाण के प्रतिपादन में, आचार्य वादिदेव सूरि कृत प्रमाण-नय-तत्वालोक और उस पर स्याद्वाद रत्नाकर का उपयोग किया गया है। जैन दृष्टि से प्रमाण का निरूपण सुगम और सुबोध है। किन्तु कहीं-कहीं पर चर्चा गम्भीर भी है।

नय, जैन दर्शन की मौलिक देन है। क्योंकि अन्य किसी भी वैदिक न्याय और बौद्ध न्याय में इस विषय का नाम मात्र भी नहीं है। नयवाद पर ही अनेकान्तवाद टिका हुआ है। वस्तुतः नय का मुख्य सम्बन्ध लोक व्यवहार के साथ है। बिना नय के लोक व्यवहार चल ही नहीं सकता। एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, भ्राता, पति आदि शब्दों के द्वारा प्रकट किया

जाता है, अपेक्षा भेद से। नय का सार तत्त्व यही तो है। अतः नय महत्व-पूर्ण विषय है।

काव्य शास्त्र में शब्दों की अभिधा शक्ति के अतिरिक्त लक्षणा तथा व्यंजना शक्ति को भी स्वीकार किया गया है। क्योंकि उनके बिना शब्दों का सही अर्थ नहीं किया जा सकता। एक शब्द के अनेक अर्थ सम्भव हैं, जो शब्द वृत्तियों से ही सम्भव हो सकता है। जैसे हम कभी-कभी कहते हैं, कि देवदत्त निरा बैल है। लेकिन मनुष्य बैल कैसे हो सकता है ? पर, इस प्रकार का कथन असत्य भो नहीं हो सकता। अतः लक्षणा के द्वारा यहाँ बैल का अर्थ है—निरा बुद्ध अथवा मूर्ख। जैन दर्शन इस प्रकार के वचनों को नैगम नय में ही अन्तर्भूत कर लेता है। अतः नय महत्वपूर्ण हैं। नयों का भी तर्क भाषा में विस्तार से कथन है।

तर्कभाषा में निक्षेप

इस ग्रंथ का तृतीय विषय है—निक्षेप। नय कम अधिक मात्रा में अर्थ की अपेक्षा रखता है, किंतु अनेक स्थल इस प्रकार के भी होते हैं, जहाँ व्यवहार के साथ अर्थ का किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता। कल्पना करो, मोहन व्यक्ति परम मूर्ख है, लेकिन उसका नाम बृहस्पति रख दिया गया। यहाँ यह प्रश्न होता है, कि क्या उस व्यक्ति को बृहस्पति कहना, असत्य वचन है ? नहीं, वह कथन असत्य नहीं है, सत्य ही है। पत्थर की मूर्ति को विष्णु, मिट्टी की मूर्ति को दुर्गा आदि देवी-देवों को नाम से संबोधित किया जाता है। शतरंज के पासों को गज एवं अश्व आदि कहा जाता है। गाँधीजी के चित्र को गाँधीजी कहा जाता है। पर, यह असत्य नहीं है क्योंकि इसके लिए जैन दर्शन निक्षेप के सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है। यह शब्द क्षिप् धातु से बना है। उसका अर्थ है—फेंकना। अर्थ का विचार किए बिना शब्द को वस्तु पर फेंकना, निक्षेप होता है। यह निक्षेप शब्द की व्युत्पत्ति है। निक्षेप का अर्थ—न्यास और विभाग भी किया जाता है।

नय और निक्षेप

नय ज्ञान रूप है, और निक्षेप शब्द रूप है। नय में व्यवहार की प्रधानता रहती है। उसमें अर्थ की ओर भी ध्यान रहता है, जबकि निक्षेप में शब्द की ओर लक्ष्य रहता है। उसमें अर्थ की ओर ध्यान नहीं रहता है। तृतीय द्रव्य निक्षेप भूत और भावी अवस्थाओं को लेकर चलता है, जबकि चतुर्थ निक्षेप वर्तमान की वास्तविकता को लेकर चलता है। निक्षेप का सिद्धान्त भी जैन दर्शन की मौलिक देन है। आगम साहित्य में, व्याख्या की

परिपाटी में इन्हीं निक्षेपों का आश्रय लिया जाता है। जैसे कि ज्ञान का प्रतिपादन करते समय पहले नाम, स्थापना, और द्रव्य रूप में, इसका विवेचन किया जाएगा, और इसके बाद भाव ज्ञान के रूप में असली वस्तु का कथन होता है।

लक्षण और भेद

उपाध्याय यशोविजयजी ने निक्षेप का लक्षण करते हुए कहा है, कि शब्द और अर्थ की विशेष-रचना, जिससे प्रकरण आदि के अनुसार अप्रतिपत्ति आदि का निवारण होकर, यथास्थान विनियोग होता है, वह निक्षेप कहा जाता है। उस निक्षेप के चार भेद हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इनके अनन्तर भेदों की चर्चा नहीं की है।

१. नामनिक्षेप—किसी ने अपने पुत्र का नाम इन्द्र रखा। इन्द्र शब्द शक्र का वाचक है, पर पुत्र का नाम रखते समय उसके यथार्थ अर्थ पर दृष्टि नहीं रखी जाती। जिसका नाम इन्द्र रखा गया है, वह इन्द्र के पर्याय वाचक शक्र एवं पुरन्दर आदि शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता। नाम और नामवान् पदार्थ में, उपचार से अभेद होता है। अतः इन्द्र यह नाम, नाम कहा जाता है, साथ ही इन्द्र नाम वाला व्यक्ति भी इन्द्र कहा जाता है।

२. स्थापना निक्षेप—जो वस्तु उस मूलभूत अर्थ से रहित हो, किन्तु उसी के अभिप्राय से आरोपित की जाए, वह स्थापना निक्षेप है। वह चित्र आदि में तदाकार और अक्ष आदि में अतदाकार होती है। वह चित्र की अपेक्षा अल्पकालिक है, और नन्दीश्वर द्वीप के चैत्यों की शाश्वत प्रतिमा की अपेक्षा शाश्वत भी होती है।

३. द्रव्य निक्षेप—भूत भाव अथवा भावी भाव का जो कारण निक्षिप्त किया जाता है, वह द्रव्य निक्षेप कहा जाता है। जैसे कि जिस घट में भूतकाल में घृत रखा था, अथवा भविष्य में रखा जाएगा, वर्तमान में भी उसे घृत घट कहा जाता है।

४. भाव निक्षेप—विवक्षित क्रिया की अनुभूति से युक्त जो स्वतत्त्व निक्षिप्त किया जाता है, वह भाव निक्षेप है। जैसे वर्तमान में इन्दन क्रिया करने वाला 'भाव-इन्द्र' होता है।

तर्क भाषा में निक्षेपों का कथन, न तो बहुत विस्तार से है, और न अति संक्षेप में ही है। विषय की गम्भीरता के कारण कहीं-कहीं पर भाव और भाषा गम्भीर अवश्य हो गये हैं।

जगच्चतुष्टयमय

नाम अपने से भिन्न का नहीं, अभिन्न नामवान् पदार्थ में सम्बन्ध का कारण है। जब श्रोता घट नाम का श्रवण करता है, तब उसे घट आदि से भिन्न और अपने से अभिन्न घट पदार्थ का ही बोध होता है। अतः सभी पदार्थों को नामरूप समझना चाहिए।

सभी पदार्थ स्थापना रूप हैं, क्योंकि मति, शब्द और घटादि सभी में आकार होता है। नील आदि तथा संस्थान विशेष आदि आकार अनुभव सिद्ध है।

सभी पदार्थ द्रव्यात्मक हैं। उत्फण, विफण और कुण्डलित सर्पवत्। सर्प कभी फण फैला लेता है, कभी सिकोड़ लेता है, कभी गोलमोल हो जाता है, कभी लम्बा फैल जाता है, लेकिन सभी अवस्थाओं में सर्प रूप द्रव्य तो वही प्रतीत होता है। पर्याय में विकार होता है, द्रव्य में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। सभी पदार्थ इसी प्रकार द्रव्य रूप हैं।

सभी पदार्थ भावात्मक और पर्याय रूप हैं। क्योंकि पर्याय प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। अतएव जगत् के समस्त पदार्थ नामादि चतुष्टय रूप हैं। यह नाम नय, स्थापना नय, द्रव्य नय और भाव नय का समुदायवाद कहा कहा जाता है।

संसार के समस्त पदार्थ—द्रव्य, गुण और पर्यायरूप हैं। गुणों का परिणमन पर्याय है, गुण सदा द्रव्य में स्थित हैं। द्रव्य के बिना गुण नहीं, गुण के बिना द्रव्य नहीं। अतः जगत् द्रव्य, गुण और पर्याय कहा जाता है।

निक्षेपों को नयों में योजना

चार निक्षेपों में से नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप को द्रव्यार्थिक नय ही स्वीकार करता है। भाव निक्षेप को पर्यायार्थिक नय मान्य करता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के मत के अनुसार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य में कहा है—नामादि तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नय को और भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नय को मान्य है। किन्तु जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपने निज के मत के अनुसार नमस्कार के निक्षेपों पर विचार करते हुए कहा है, कि शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नय भाव निक्षेप को ही स्वीकार करते हैं, और शेष नय सभी निक्षेपों को स्वीकार करते हैं। चार निक्षेपों से जीव आदि पदार्थों का न्यास अर्थात् विभाग करना चाहिए।

वस्तु नाम अर्थात् अभिधान है, उसका आकार स्थापना है, भावी पर्याय के प्रति कारणता द्रव्य है और कार्यापन्न वह वस्तु भाव है।

आलाप पद्धति में निक्षेप

प्रमाण और नय के निक्षेपण अर्थात् आरोपण को निक्षेप कहते हैं। वह चार प्रकार का होता है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। निक्षेप का अर्थ है, रखना। प्रयोजनवश नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव में पदार्थ के स्थापन करने को निक्षेप कहते हैं।

१. **नाम**—जिस पदार्थ में जो गुण नहीं है, उसको उस नाम से कहना, नाम निक्षेप है। जैसे किसी दरिद्र ने अपने पुत्र का नाम राजकुमार रखा है। वह केवल नाम भर से राजकुमार है।

२. **स्थापना**—साकार अथवा निराकार पदार्थ में, "वह यह है" इस प्रकार की स्थापना करने को स्थापना निक्षेप कहते हैं। चित्र में स्थापना।

३. **द्रव्य**—आगामी परिणाम की योग्यता रखने वाले पदार्थ को द्रव्य निक्षेप कहते हैं। जैसे राजा के पुत्र को राजा कहना, युवराज को राजा कहना।

४. **भाव**—वर्तमान पर्याय से विशिष्ट द्रव्य को भाव निक्षेप कहते हैं। जैसे राज्य करते समय ही राजा को राजा कहना।

नय-चक्र में निक्षेप

द्रव्य अनेक स्वभाव वाला होता है। उन में से जिस स्वभाव के द्वारा वह ज्ञेय होता है, उसके लिए एक ही द्रव्य के चार भेद किए जाते हैं। अतः निक्षेप के चार भेद है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य की संज्ञा को नाम कहते हैं।

द्रव्य निक्षेप के दो भेद है—आगम द्रव्य निक्षेप और नो आगम द्रव्य निक्षेप। जो व्यक्ति जिन विषयक शास्त्र का ज्ञाता है, किन्तु उसमें उपयुक्त नहीं है, अर्थात् ज्ञाता होते हुए भी जब वह उस विषयक शास्त्र के चिन्तन में नहीं लगा है, उसे आगम द्रव्य जिन कहते है। नो आगम द्रव्य के तीन भेद हैं—ज्ञायक शरीर, भावि और कर्म नोकर्म। ज्ञायक शरीर के तीन भेद हैं—च्युत, च्यावित और त्यक्त। भाव निक्षेप के दो भेद हैं—*आगम भाव निक्षेप और नो आगम भाव निक्षेप।*

आगम में कहा गया है, कि जिस पदार्थ का प्रमाण के द्वारा, नय के द्वारा और निक्षेप के द्वारा सूक्ष्म दृष्टि से विचार नहीं किया जाता, वह

पदार्थ कभी युक्त होते हुए भी अयुक्त-सा प्रतीत होता है, और कभी अयुक्त होता हुआ भी युक्त-सा प्रतीत होता है। अतः प्रमाण, नय और निक्षेप के द्वारा पदार्थ का निर्णय करना, उचित होता है।

जो किसी एक निश्चय या निर्णय में क्षेपण करता है, उसे निक्षेप कहते हैं। अप्रकृत विषय के निराकरण के लिए तथा प्रकृत अर्थ का कथन करने के लिए, संशय दूर करने के लिए और तत्त्वार्थ का निश्चय करने के लिए निक्षेपों का कथन अवश्य ही करणीय होता है। क्योंकि निक्षेपों को छोड़कर, वर्णन किया गया सिद्धान्त, सम्भव है, वक्ता और श्रोता दोनों को विषम मार्ग पर ले जाए। अतएव आगम में निक्षेपों का कथन आवश्यक कहा गया है।

प्रमाण का एकदेश नय होता है। क्योंकि प्रमाण सकलादेश है, और नय विकलादेश। वस्तु के अनन्त धर्मों को प्रमाण ग्रहण करता है, और नय उसके किसी भी एक धर्म को ग्रहण करता है। नय ज्ञान स्वरूप होता है। अतः निक्षेप उसके विषय होते हैं। नय विषयी होता है। आगम के गहन तत्त्वों को समझने के लिए ही प्रमाण, नय और निक्षेप का परिज्ञान आवश्यक कहा गया है। तीनों से तत्त्व का निर्णय होता है।

□□

विभिन्न दर्शन-शास्त्रों में

शब्दार्थ-विवेचन

शब्दार्थ-विवेचन

शब्द, अर्थ और इन दोनों का सम्बन्ध मुख्यतया व्याकरण का विषय है। परन्तु अन्य शास्त्रों में भी इस पर विचार किया गया है। जैसे कि न्यायशास्त्र में, और काव्य-शास्त्र में। न्याय और मीमांसा में, इस पर विशेष रूप से विस्तृत विचार किया गया है। विभिन्न दार्शनिकों ने शब्द प्रमाण का विशद निरूपण करते समय शब्द की परिभाषा, शब्दों के भेद तथा शब्दार्थ का परस्पर सम्बन्ध पर अपने विचार प्रकट किये हैं। वहाँ शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का अभिप्राय शब्द से अर्थ-प्रत्यायन की प्रक्रिया से समझना चाहिए। इस विषय में भाषा-परिच्छेदकार नैयायिक विश्वनाथ पञ्चानन ने कहा है, कि शब्द-बोध रूप फल के प्रति पद-ज्ञान करण अर्थात् असाधारण कारण है, पदार्थ-ज्ञान द्वार अर्थात् व्यापार है, अवान्तर व्यापार है और शक्ति-ज्ञान सहकारी कारण है। यह नैयायिक का अभिप्राय है। लेकिन शब्दार्थ सम्बन्ध के विषय में एक मत नहीं है।

मीमांसक शब्द एवं अर्थ में, नित्य सम्बन्ध मानते हैं। वैशेषिक तथा नव्य नैयायिक शब्दार्थ सम्बन्ध की एकरूपता में आस्था नहीं रखते। नैयायिकों के अनुसार शब्द अनित्य है। शब्द के समान अर्थ की परिभाषा, प्रभेद आदि का निरूपण भी दर्शन में किया गया है। तत्व-चिन्तामणि में, जो नव्य न्याय का मुख्य ग्रन्थ माना गया है, उसमें अर्थ की परिभाषा इस प्रकार है—"यत्परः शब्दः स शब्दार्थः।" शब्द जिस परक होता है, उस भाव को अर्थ कहते हैं।

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में, प्रायः समस्त शास्त्रकारों ने विचार किया है। शब्द को प्रमाण मानने वालों को तो विचार करना आवश्यक

ही था, लेकिन जिन्होंने प्रमाण रूप में शब्द को स्वीकार नहीं किया, उन्हें भी शब्द और अर्थ पर विचार करना पड़ा है। शब्द तो व्यवहार मात्र का आधार माना गया है। अर्थ बिना शब्द के रह नहीं सकता। वाचक है, तो उसका वाच्य भी होना चाहिए। अतः शब्द को प्रमाण नहीं मानने वाले चार्वाक और बौद्ध को भी व्यवहार चलाने के लिए शब्द और अर्थ का विचार करना पड़ा है।

शब्दार्थ पर अर्थात् वाच्य वाँचक पर विचार करने वाले दार्शनिकों में मुख्य तीन हैं, जो इस प्रकार हैं—स्फोटवादी वैयाकरण, ध्वनिवादी आलंकारिक और प्रमाणवादी नैयायिक। इन तीनों ने शब्दार्थ पर गम्भीर विचार किया है। शब्द में तीन प्रकार की शक्ति स्वीकार की है—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। कुछ विचारकों ने एक शक्ति, तात्पर्य वृत्ति को भी स्वीकार किया है। लेकिन अन्य सबका समावेश तीनों में हो जाता है। तीनों ने अपनी-अपनी पद्धति से विचार किया है। व्याकरण को दर्शन-शास्त्र प्रदान करने वाले नागेश भट्ट हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने तथा आचार्य मम्मट ने व्यञ्जना की सिद्धि के द्वारा अलंकार शास्त्र को दर्शन का रूप दिया। नैयायिकों ने शब्द को चतुर्थ प्रमाण सिद्ध कर दिया।

परम लघु-मंजूषा

नागेश भट्टकृत परम-लघु-मंजूषा नव्य व्याकरण का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसमें चतुर्दश प्रकरण हैं, उन में स्फोट-निरूपण भी एक प्रकरण अर्थात् अध्याय है, जिसमें वैयाकरणों के प्रसिद्ध सिद्धान्त स्फोटवाद पर विचार किया गया है। इस स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'स्फोटः स्फुटन्ति अर्थाः यस्मात्। विकसन अर्थ में स्फुट् धातु से अपादान अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय होकर स्फोट शब्द निष्पन्न होता है। उसके आठ भेद हैं—

१. वर्ण जाति स्फोट	२. वर्ण व्यक्ति स्फोट
३. पद जाति स्फोट	४. पद व्यक्ति स्फोट
५. वाक्य जाति स्फोट	६. वाक्य व्यक्ति स्फोट
७. अखण्ड पद स्फोट	८. अखण्ड वाक्य स्फोट

वर्ण, पद और वाक्य के भेद से स्फोट तीन प्रकार के हैं—

१. जिसमें वर्ण ही वाचक हो, वह वर्ण स्फोट।

२. जिसमें पद ही वाचक हो, वह पद स्फोट।

३. जिसमें वाक्य ही वाचक हो, वह वाक्य स्फोट।

इस प्रकार त्रिविध होते हुए भी जाति व्यक्ति के भेद से पुनः छह प्रकार हैं। स्फोटात्मक शब्द, पर ब्रह्म परमेश्वर से अभिन्न है। यह शब्द रूप परब्रह्म है।

प्रमाणों में शब्द प्रमाण

महर्षि गौतम ने चार प्रमाणों में एक शब्द को भी प्रमाण माना है। शब्द से होने वाले बोध को शब्द कहा है। शिष्ट जनों का आदेश ही चतुर्थ शब्द प्रमाण है। चरक में पतञ्जलि ने आप्त का लक्षण कहा है—"आप्तो नाम अनुभवेन वस्तु-तत्त्वस्य पूर्णतः निश्चयवान् रागादि वशतोऽपि नान्यथावादी यः सः।"

अपने अनुभव से वस्तु स्वरूप का निश्चय करने वाला, राग आदि वश होकर जो कभी असत्य नहीं बोलता, उसे आप्त कहा जाता है। आप्त पुरुष का उपदेश ही शब्द प्रमाण है।

शब्द में रहने वाली वृत्ति तीन प्रकार की होती है—शक्ति, लक्षणा और व्यञ्जना। शक्ति को अभिधा और संकेत भी कहते हैं।

नागेश भट्ट का मत

वाक् चार हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। उनमें परा वाक् उसे कहते हैं, जो मूलाधार में स्थित वायु से संस्कृत मूलाधार में ही रहने वाली शब्द ब्रह्म स्वरूप क्रिया-शून्य बिन्दु रूप ही परावाक् कही जाती है। उसके बाद नाभि में स्थित पवन से व्यञ्जित मन में ही दृष्टिगोचर होती है, वह पश्यन्ती वाक् कही जाती है। ये दोनों परा पश्यन्ती, वाग्-रूप ब्रह्मयोगियों की समाधि में निर्विकल्प और सविकल्प विषय कहा जाता है। उसके बाद हृदय स्थित पवन से प्रकटित अर्थों का प्रतिपादन करने वाली स्फोट रूप, बुद्धि ग्राह्य मध्यमा वाक् कही जाती है। उसके बाद में मुख में स्थित पवन से टकराकर, व्यञ्जित होकर, जिसे दूसरे लोग सुन सकें, वह वैखरी वाक् कही जाती है। यह वाग् रूप ब्रह्म है।

मूल चक्र में स्थित वाक् परा, नाभि में स्थित वाक् पश्यन्ती, हृदय में स्थित वाक् मध्यमा और कण्ठ में स्थित वाक् वैखरी है। वैखरी वाक् से किया हुआ शब्द, अन्य लोगों के भी श्रवण गोचर होता है। मध्यमा वाक् से किया हुआ शब्द स्फोट व्यञ्जक कहा जाता है।

शब्द की उत्पत्ति

एक ही बार मध्यमा और वैखरी वाक् से शब्द उत्पन्न होता है।

उसमें मध्यमा-जन्य शब्द, अर्थ का वाचक होता है, और स्फोटात्मक शब्द का व्यञ्जक होता है। वैखरीनादजन्य ध्वनि सभी लोगों के श्रवण होने से श्रव्य होता है, और भेरी नाद की भाँति निरर्थक होता है। मध्यमा नाद अत्यन्त सूक्ष्म है और कान बन्द कर लेने पर जप आदि में सूक्ष्मतर वायु से व्यंग्य शब्द ब्रह्मरूप स्फोट का व्यञ्जक है। अतः मध्यमा-नाद व्यंग्य शब्द स्फोटात्मक ब्रह्मरूप है, और नित्य है। जिस प्रकार ब्रह्म से संसारी की सृष्टि होती है, उसी प्रकार ब्रह्म से अर्थात् शब्द ब्रह्म से वर्ण-पद आदि व्याकरण की सृष्टि होती है। जिससे स्पष्ट अर्थ व्यक्त हो, वही स्फोट है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में, यह वैयाकरणों का अभिमत है।

मम्मट का काव्य-प्रकाश

आचार्य मम्मट का गुरु गम्भीर ग्रन्थ काव्य-प्रकाश है। यह ग्रन्थ अलंकार शास्त्र का अथवा साहित्य शास्त्र का मुकुटमणि ग्रन्थ है। जो इसमें है, वह अन्यत्र भी हो सकता है, लेकिन जो इसमें नहीं है, वह अन्यत्र भी उपलब्ध नहीं हो सकता है। मम्मट परम विद्वान् हैं, व्याकरण, साहित्य, एवं दर्शन शास्त्र में। समझौतावादी नहीं हैं, विपक्ष पर कठोर प्रहार करके अपने पक्ष का समर्थन ही नहीं करते तर्कों से उसे सिद्ध भी करते हैं। अतः न्याय-शास्त्र के भी वे पारंगत पण्डित हैं। काव्य-प्रकाश के अध्ययन से, विशेषतः ग्रन्थ की गुरु-ग्रन्थियों से प्रतीत होता है, कि मम्मट पद, वाक्य और प्रमाण—तीनों में परम निपुण थे। पद, व्याकरण, वाक्य-मीमांसा और प्रमाण, न्याय का गहन अध्ययन था। अतः काव्य-प्रकाश में स्थान-स्थान उनका प्रकाण्ड पाण्डित्य स्फुट होता रहता है।

आचार्य मम्मटकृत काव्य प्रकाश में, दश उल्लास हैं। १४२ कारिकाएँ और ६०३ उदाहरण हैं, जो विभिन्न काव्यों से और नाटकों से संकलित किए गए हैं। उदाहरणों के चुनाव में भी आचार्य की प्रखर प्रतिभा प्रकट होती है। आचार्य ने काव्य-प्रकाश में, काव्य-शास्त्र के विभिन्न विषयों का विवेचन किया है। उनकी पैनी नजर से कोई विषय छूटा नहीं है।

१. प्रथम उल्लास में, काव्य के हेतु, लक्षण और त्रिविध भेदों का वर्णन है।

२. द्वितीय उल्लास में, तीन प्रकार की शब्द शक्तियों का वर्णन है—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना।

३. तृतीय उल्लास में, शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जना का वर्णन है।

४. चतुर्थ उल्लास में, ध्वनि का स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद, रस और भावों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

५. पञ्चम उल्लास में, गुणीभूत व्यंग्य के भेद-प्रभेद तथा व्यञ्जना की सिद्धि की है।

६. षष्ठ उल्लास में, चित्र काव्य का वर्णन किया है, जो अधम काव्य माना जाता है।

७. सप्तम उल्लास में, पद दोष, वाक्य दोष, रस दोष, अर्थ दोष आदि का अत्यन्त विस्तार से प्रतिपादन किया है।

८. अष्टम उल्लास में, माधुर्य एवं प्रसाद आदि गुणों का और गौड़ी, पाञ्चाली वृत्तियों का वर्णन किया गया है।

९. नवम उल्लास में, शब्दालंकारों का वर्णन किया है।

१०. दशम उल्लास में, अर्थालंकारों का विस्तार से प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार काव्य-प्रकाश में, काव्य के समस्त सिद्धान्तों का वर्णन है।

आचार्य मम्मट

आचार्य मम्मट को वाग्देवतावतार कहा जाता था। उनकी अमर कृति काव्य प्रकाश, काव्यशास्त्र का अद्वितीय, अनुपम तथा अतुलनीय ग्रन्थ माना जाता है। उनकी एक ही कृति ने उनको साहित्य जगत् में अमर बना दिया है। काव्य शास्त्र पर, अलंकार शास्त्र पर और साहित्य शास्त्र पर आधिपत्य प्राप्त करने के लिए इस ग्रन्थ का अध्ययन परम आवश्यक है।

आचार्य मम्मट ध्वनिवादी आचार्यों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। ध्वनिवाद की स्थापना आचार्य आनन्दवर्धन ने की थी। किन्तु उसको स्थायित्व प्रदान किया, आचार्य मम्मट ने। ध्वनिवाद के विरोधी आचार्यों के मतों का खण्डन उन्होंने इस प्रकार किया, कि आज तक किसी को ध्वनि के विरोध में खड़ा होने का साहस नहीं हुआ। आनन्दवर्धन ने ध्वनि तत्त्व पर तो विवेचन किया है, पर काव्य के अन्य साधनों से दूर ही रहे। अभिनव गुप्त की काव्य शास्त्र को लोचन और अभिनव भारती अनुपम देन है। परन्तु दोष, गुण और अलंकार का विवेचन नहीं किया। आचार्य

मम्मट ने काव्य प्रकाश में सभी विषयों को एक सुन्दर व्यवस्था दी। वस्तुतः मम्मट के समान व्यवस्थित और व्यावहारिक व्याख्या करने वाला उनके बाद कोई दूसरा नहीं हो सका। इस क्षेत्र में उनका व्यक्तित्व अद्वितीय रहा है।

शब्द और अर्थ

मम्मट शब्दार्थ युगल को काव्य मानते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने मम्मट के काव्य लक्षण का खण्डन किया है। नागेश भट्ट ने जगन्नाथ के मत का खण्डन किया है। उनका कहना है, कि जिस प्रकार काव्य सुना, यह व्यवहार होता है, उसी प्रकार काव्य समझा, यह व्यवहार भी होता है। समझना अर्थ का होता है, शब्द का नहीं। वेद आदि भी शब्दार्थ वृत्ति के प्रतिपादक हैं। अतः शब्द और अर्थ के उभय रूप को काव्य मानने में किसी प्रकार का दोष नहीं है। वस्तुतः देखा जाए तो दोनों का सम्बन्ध भी अनिवार्य है। अर्थ की स्थिति शब्द में निहित है। बिना शब्द के अर्थ का भास असम्भव है। अतः आचार्य मम्मट ने शब्द और अर्थ, उभय को काव्य कहा है। काव्य लक्षण निर्दोष है।

शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य कहे जाते हैं। यही कारण है, कि मम्मट ने एक ओर तो ध्वनि को काव्य माना है, दूसरी ओर चित्र काव्य को भी काव्य पद प्रदान किया है। अपने से पूर्व होने वाले विद्वानों के विचारों का सार लेकर मम्मट ने जो लक्षण किया है, उसमें शब्द और अर्थ दोनों को समान स्थान मिला है, उपेक्षा नहीं हैं, किसी की। किन शब्दार्थ दोषरहित हो, गुणसहित हो और कहीं पर अलंकार-शून्य भी हो सकते हैं। निर्दोष, सगुण और सालंकार शब्दार्थ काव्य कहा जाता है।

ध्वनि-काव्य

काव्य-शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित आचार्य मम्मट ने काव्य को तीन विभागों में विभक्त किया है—उत्तम काव्य, मध्यम काव्य और अधम काव्य। उत्तम को ध्वनि, मध्यम को गुणीभूत व्यंग्य और अधम को चित्र कहा है। जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार हो, उसे उत्तम काव्य कहा जाता है। काव्य-शास्त्र के विद्वानों ने उसको ध्वनि काव्य कहा है। अपने अभिमत के समर्थन में आचार्य मम्मट ने वैयाकरणों की सम्मति का उल्लेख इस प्रकार किया है—"बुधैः वैयाकरणैः प्रधानभूत-स्फोट-रूप व्यंग्य-व्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः।" अर्थात् विद्वान् वैयाकरणों ने प्रधानभूत व्यंग्य रूप की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द

के लिए ध्वनि इस शब्द का प्रयोग किया है। अतः काव्य-शास्त्र के विद्वान् ध्वनि शब्द का प्रयोग करने लगे।

स्फोटवाद

वैयाकरणों का मुख्य सिद्धान्त स्फोटवाद है। स्फुटयति, प्रकाशयति, अर्थमिति स्फोटः। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे अर्थ की प्रतीति हो, उसे स्फोट कहते हैं। श्रोत्रग्राह्य ध्वनि अर्थात् वर्ण आशुतर विनाशी होने के कारण एक वर्ण के उच्चारण के बाद जब द्वितीय वर्ण का उच्चारण किया जाता हो, तब प्रथम वर्ण नष्ट हो जाता है। वर्ण-समूह की एक साथ उपस्थिति कैसे हो सकती है ? इसका समाधान करने के लिए वैयाकरणों ने स्फोटवाद की परिकल्पना की। उनका कथन है, कि पूर्व पूर्व वर्णों के अनुभव से एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है। उस संस्कार के सहकृत अन्त्य वर्ण के श्रवण से पद की प्रतीति होती है, उसे ही स्फोट कहते हैं। वह ध्वन्यात्मक स्फोट रूप शब्द नित्य एवं ब्रह्म स्वरूप है। अतः व्याकरण शास्त्र में स्फोट की अभिव्यक्ति शब्द से होने के कारण वैयाकरण स्फोट के व्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि का प्रयोग करने लगे। आचार्य आनन्दवर्धन तथा आचार्य मम्मट ने भी उनका अनुसरण किया।

तीन प्रकार की शक्ति

काव्य-शास्त्र में, तीन प्रकार की शक्ति हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। इन शक्तियों के द्वारा ही शब्दबोध अर्थात् शब्दों के अर्थ का ज्ञान होता है। इसको वाक्यार्थ-बोध एवं वाक्यार्थ-ज्ञान भी कहते हैं। आचार्य मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में, तीन प्रकार के शब्द और तीन प्रकार के अर्थ माने हैं। तीन प्रकार के शब्द इस प्रकार हैं—वाचक, लक्षक और व्यञ्जक। तीन प्रकार के अर्थ इस प्रकार हैं–वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य। तीन प्रकार के शब्दों से तीन प्रकार के अर्थों के ज्ञान के लिए अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना तीन प्रकार की शब्द शक्तियाँ मानी हैं। जैसे कि 'गंगायां घोषः'अर्थात् गंगा में घोष अर्थात् आभीर पल्ली है। अहीरों का गाँव है।

एक ही गंगा शब्द, प्रवाह रूप अर्थ का वाचक, तीर-रूप अर्थ का लक्षक और शैत्य-पावनत्व रूप अर्थ का व्यञ्जक होता है। वाच्य अर्थ अभिधा के द्वारा, लक्ष्य अर्थ-लक्षणा के द्वारा और व्यंग्य अर्थ व्यञ्जना के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है। यहाँ वाच्य अर्थ, प्रवाह है। लक्ष्य अर्थ

तीर है। शीतत्व-पावनत्व व्यंग्य अर्थ होता है। नागेश भट्ट भी यहाँ व्यंजना स्वीकार करते हैं।

अभिधा वृत्ति के सहारे जो शब्द साक्षात् संकेतिक अर्थ का बोध कराता है, वह वाचक शब्द कहा जाता है। संकेतिक अर्थ वह होता है, कि जिसके सुनते ही तुरन्त अर्थबोध हो जाता है। संकेतिक अर्थ चार प्रकार के होते हैं—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्द। अतः कहा गया है—'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः।' जैसे कि गो, शुक्ल, चलन और डित्थ—इन चार प्रकार के शब्दों का प्रवृत्ति-निमित्त—जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा—इन चार उपाधियों से होता है। मम्मट के मतानुसार, जिस शब्द का जिस अर्थ में बिना व्यवधान के संकेत का ग्रहण होता है, वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है। लोक व्यवहार में बिना संकेत ग्रह के शब्द के अर्थ की प्रतीति नहीं हो पाती है। प्रत्येक शब्द संकेत ग्रह की सहायता से ही अपने अर्थ को प्रकट करता है। संकेत ग्रह किसमें हो? व्यक्ति में, जाति में अथवा उपाधि में? इस विषय में व्याकरण, मीमांसा, न्याय और बौद्ध का अलग-अलग अपना दृष्टिकोण रहा है। मीमांसक केवल जाति में संकेत ग्रह मानता है। नैयायिक जाति-विशिष्ट व्यक्ति में और बौद्ध अपोह में संकेत ग्रह स्वीकार करता है। परन्तु आचार्य मम्मट वैयाकरण के मत को स्वीकार करके उपाधि में संकेत ग्रह मानते हैं। इस प्रकार मम्मट के मतानुसार केवल व्यक्ति से संकेत ग्रह न होकर व्यक्ति के उपाधिरूप, जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा आदि धर्मों में होता है, और तभी शब्दों का चार विभाग भी बनता है।

विभिन्न मत

इस विषय में, विभिन्न शास्त्रों में, एक मत न होकर, विभिन्न मत हैं। सबका अपना-अपना दृष्टिकोण अलग है। क्योंकि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में, व्याकरण, मीमांसा, न्याय और अलंकार-शास्त्र कभी एक मत नहीं हो सके। यहाँ पर संक्षेप में सबका उल्लेख किया जा रहा है।

मीमांसक मत

मीमांसक केवल जाति में संकेत ग्रह मानते हैं। उनका तर्क है, कि हिम, दुग्ध और शंख आदि में स्थित शुक्ल गुणों के अलग-अलग होते हुए भी शुक्लत्व सामान्य एक है। चावल आदि में पाक क्रिया भिन्न-भिन्न होने पर भी पाकत्व सामान्य एक है। बाल, तरुण एवं वृद्ध आदि द्वारा उच्चरित डित्थत्व शब्द का उच्चारण भिन्न-भिन्न होने पर भी डित्थत्व सामान्य एक

है। अतः स्पष्ट है, कि सर्वत्र प्रवृत्ति निमित्त जाति ही है। इसलिए जाति में संकेत ग्रह होना चाहिए।

नैयायिक मत

नैयायिक जाति विशिष्ट व्यक्ति में संकेत ग्रह मानते हैं। उनका अभिप्राय है, कि केवल व्यक्ति में संकेत ग्रह मानने पर आनन्त्य और व्यभिचार दोष आते हैं। केवल जाति में संकेत मानने पर शब्द से केवल जाति का ही बोध होने से शब्द से व्यक्ति का बोध नहीं हो सकेगा। यदि यह कहा जाये, कि जाति में ही संकेत ग्रह मानकर आक्षेप से व्यक्ति का बोध हो जायेगा, तो उसका शब्द-बोध में अन्वय नहीं होगा। क्योंकि शब्द शक्ति से प्राप्त अर्थ का ही अन्वय होता है। अतः नैयायिक न केवल जाति में संकेत ग्रह मानते हैं, न केवल व्यक्ति में ही मानते हैं, जाति विशिष्ट व्यक्ति में संकेत ग्रह मानते हैं।

बौद्ध मत

बौद्ध नैयायिक अपोह में संकेत ग्रह मानते हैं। उनका कथन है, कि शब्द का अर्थ अपोह होता है, और अपोह का अर्थ है, अतद् व्यावृति अथवा तद्भिन्नत्व। बौद्ध जाति को नहीं मानते, जाति के स्थान पर अपोह को मानते हैं। उनका मत है, कि अनेक घट व्यक्तियों में जो घटः घटः घटः की प्रतीति होती है, वह अतद् व्यावृत्ति है। जैसे घट से भिन्न है, घट को छोड़कर सारा जगत् और सारे जगत् से भिन्न घट है। अतः बौद्ध के मत में, अपोह में संकेत ग्रह माना जाता है। लेकिन यह मत चारु नहीं है।

मम्मट का पक्ष

आचार्य मम्मट वैयाकरणों के मत के अनुसार जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा रूप उपाधि में संकेत ग्रह मानते हैं। वे इन सभी मतों का खण्डन कर, वैयाकरणों द्वारा समर्थित जाति आदि चारों में संकेत ग्रह मानने का सिद्धान्त स्वीकार करते हैं।

संकेतित अर्थ चार प्रकार का होता है—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा। इन चार संकेतित अर्थों के वाचक शब्द भी चार प्रकार के होते हैं—जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक और यदृच्छावाचक। मम्मट का यही पक्ष रहा है।

आनन्दवर्धन

आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। उन्होंने ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना कर आलोचना-शास्त्र में एक नयी

दिशा प्रदान की। दर्शन-शास्त्र में जो स्थान अद्वैतवादी शंकर का है, अलंकार-शास्त्र में वही स्थान आनन्दवर्धन का है। इनके ग्रन्थ का नाम ध्वन्यालोक है। इसमें चार उद्योत हैं। इसमें ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन है। काव्य-शास्त्र के इतिहास में, ध्वन्यालोक ने एक तूफानी क्रान्ति उत्पन्न कर दी। उसके प्रबल प्रभाव से कोई भी अप्रभावित नहीं रह सका।

ध्वन्यालोक

आचार्य आनन्दवर्धन की रचना ध्वन्यालोक संस्कृत काव्य-शास्त्र की एक अमर कृति है। ध्वन्यालोक में तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। कारिका और वृत्ति स्वयं आचार्य की हैं, उदाहरणों का संकलन किया गया है। आचार्य अभिनव गुप्त ने कारिका और वृत्ति भाग पर विशाल व्याख्या की रचना की है, जिसका नाम लोचन रखा गया है। यह टीका अत्यन्त महत्वपूर्ण रही है।

काव्य-शास्त्र के इतिहास में ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने ध्वनि सिद्धान्त प्रतिपादक ध्वन्यालोक नामक ग्रन्थ की रचना कर के काव्य जगत् को एक अपूर्व देन प्रदान की है। काव्य-शास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्धन को वही प्रतिष्ठा प्राप्त है, जो प्रतिष्ठा व्याकरण-शास्त्र में महर्षि पाणिनि को और दर्शन-शास्त्र में आचार्य शंकर को प्राप्त है। अलंकार शास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्धन एक युग-प्रवर्तक माने जाते रहे हैं।

आनन्दवर्धन ने अपने से पूर्व प्रचलित काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का परिशीलन कर ध्वनि को सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित किया और गुण, अलंकार, रीति, और वृत्ति आदि सभी को ध्वनि के अन्तर्गत समाविष्ट कर दिया। उनके अनुसार ध्वनि ही एक मात्र तत्व है, इसी में सभी काव्य-शास्त्र के तत्व अन्तर्हित हैं। आनन्दवर्धन का कथन है, कि ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। इसी से काव्य प्राणवान् बनता है। इसके बिना काव्य निष्प्राण है। आचार्य ने काव्य में अर्थ तत्व को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। उनका कहना है, कि शरीर में चैतन्य के समान काव्य में अर्थ तत्व महनीय तत्व है। वह अर्थ तत्व दो प्रकार है—वाच्य और प्रतीयमान। प्रतीयमान अर्थ की कल्पना आनन्दवर्धन की स्वय की सूझ-बूझ है। वे प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा मानते हैं। शब्द तत्व के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन का दृष्टिकोण अलग है। उनके अनुसार प्रत्येक

शब्द काव्य के लिए उपयुक्त नहीं होता है। जो शब्द प्रतीयमान अर्थ से युक्त हो, वही शब्द काव्य के लिए उपयुक्त होता है।

ध्वन्यालोक का विषय

१. ध्वन्यालोक की प्रथम विशेषता है—ध्वनि की स्थापना। आचार्य आनन्दवर्धन ने उसे काव्य की आत्मा के रूप में स्थापित किया था।

२. ध्वन्यालोक की दूसरी विशेषता है—ध्वनि काव्य की प्रतिष्ठा। ध्वनि काव्य उत्तम काव्य है।

३. ध्वन्यालोक की तीसरी विशेषता है—अर्थ तत्त्व विचार। उनके अनुसार अर्थ दो प्रकार के होते हैं—वाच्य और प्रतीयमान।

४. ध्वन्यालोक की चतुर्थ विशेषता है—शब्द तत्व विचार। आनन्दवर्धन शब्द को वाचक-ध्वनि के रूप में मानते हैं।

५. ध्वन्यालोक की पंचम विशेषता है—शब्द शक्ति विचार। उनके अनुसार शब्द शक्तियाँ तीन प्रकार की हैं—अभिधा, गुण-वृत्ति अर्थात् लक्षणा और ध्वनि अर्थात् व्यंजना।

अभिनव गुप्त

अलंकार शास्त्र के इतिहास में, आचार्य अभिनव गुप्त का महान् योगदान रहा है। गुप्त, शैव दर्शन के परम विद्वान् तथा तन्त्र-शास्त्र के पारंगत पण्डित थे। साहित्य में इनके दो ग्रन्थ अति प्रसिद्ध हैं—

१. **अभिनव भारती**—भरत के नाट्य शास्त्र की टीका है। इसमें प्राचीन अलंकाराचार्यों एवं संगीताचार्यों के मतों का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः यह टीका न होकर, अभिनव गुप्त का एक मौलिक ग्रन्थ बन गया है।

२. **ध्वन्यालोक लोचन**—आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक का एक विशाल टीका ग्रन्थ है। इसमें प्राचीन आचार्यों के विभिन्न मतों की आलोचना की है। यह भी एक मौलिक ग्रन्थ है।

आचार्य अभिनव गुप्त रस सम्प्रदाय के परम पोषक थे। उन्होंने रस ध्वनि को ही काव्य की आत्मा के स्थान पर रखा है। काव्यगत रसों का तथा उनके भेद-प्रभेदों का जितना सूक्ष्म वर्णन उन्होंने किया है, वैसा अन्य किसी विद्वान् ने नहीं किया है। शब्द की तीन वृत्तियों का अर्थात् अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना का भी विस्तार से वर्णन किया है।

विश्वनाथ का साहित्य-दर्पण

अलंकार-शास्त्र के इतिहास में इस साहित्य दर्पण ग्रन्थ का गौरव-

पूर्ण स्थान है। यह ग्रंथ अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। साहित्य के समस्त अंगों और उपांगों पर विस्तार से लिखा गया है। नाट्य-शास्त्र के सिद्धांतों पर भी प्रकाश डाला गया है। इसमें काव्य, नाटक, कथा, गद्य और पद्य सभी प्रकारों का वर्णन किया गया है। साहित्य के किसी क्षेत्र को छोड़ा नहीं गया है। विश्वनाथ स्वयं भी कवि और नाटककार रहे हैं। ध्वनि-वादी आचार्यों में विश्वनाथ की गणना की है। शब्द और अर्थ पर भी शब्द वृत्तियों के द्वारा विचार किया गया है, साहित्य-दर्पण में।

वाक्य स्वरूप

साहित्य दर्पण के द्वितीय परिच्छेद में वाक्य के स्वरूप का निरूपण किया गया है। वाक्य उन पदों के समूह का नाम है, जिसमें योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति का रहना अनिवार्य है। इस प्रकार वाक्य पदों का समूह है, और इस पद समूह में योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति अनिवार्य रूप में रहती है।

१. **योग्यता**—वह विशेषता है, जिसे पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में किसी बाध अथवा विरोध का अभाव कहा जाता है। जैसे 'अग्निना सिञ्चति।' आग और सींचना इन पदों के अर्थात् पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में, बाध तथा विरोध दोनों ही सर्वानुभव सिद्ध हैं।

२. **आकांक्षा**—आकांक्षा का अर्थ है—जहाँ एक पद को दूसरे पद की जिज्ञासा रहती है। साकांक्ष पदों का समूह ही वाक्य बनता है, निराकांक्ष पदों से वाक्य नहीं बनता। जैसे कि गौरश्वः पुरुषो हस्ती। गो, अश्व, पुरुष और हाथी—इनमें किसी भी पद का अर्थ, दूसरे पद की आकांक्षा नहीं रखता है।

३. **आसत्ति**—आसत्ति रहित पद भी वाक्य नहीं हो सकता। जैसे कि देवदत्तः....ग्रामम्....गच्छति....। अविलम्ब से उच्चरित पदों का वाक्य बनता है, विलम्ब से भाषित पदों की आसत्ति अर्थात् संनिधि नहीं हो सकती। अतः वह वाक्य नहीं बनता।

मनोविज्ञान में, आकांक्षा का महत्व है। तर्कशास्त्र में योग्यता का महत्व है। भाषाविज्ञान आसत्ति को महत्व प्रदान करता है।

मीमांसकों ने आकांक्षा को, नैयायिकों ने योग्यता को तथा वैया-करणों ने आसत्ति को महत्त्व दिया है। साहित्य-दर्पणकार आचार्य विश्व-नाथ ने नैयायिक मान्यता का अनुसरण करके योग्यता को प्रधानता दी है।

काव्य-शास्त्रकारों ने शब्द और अर्थ का गम्भीर विचार किया है। सबने शब्द शक्ति को भी अपने ग्रन्थों में महत्व प्रदान किया है।

शब्द-प्रमाण

न्याय-शास्त्र में चार प्रमाण माने जाते हैं, उनमें एक प्रमाण शब्द भी है। तर्क संग्रह ग्रन्थ में उसका लक्षण इस प्रकार है—"आप्त-वाक्यं शब्दः।" आप्त पुरुष के वचनों को शब्द प्रमाण कहते हैं। आप्त कौन है ? इसके उत्तर में कहा गया है, कि "आप्तस्तु यथार्थ वक्ता।" जो सदा यथार्थ बोलता है, वह आप्त है। महर्षि गौतम ने कहा है—"आप्तोपदेशः शब्दः।" आप्त का उपदेश ही शब्द प्रमाण होता है। यह विस्तृत परिभाषा है।

शब्द प्रमाण के भेद

शब्द दो प्रकार के होते हैं—लौकिक, जिनको दृष्टार्थ शब्द भी कहते हैं। वैदिक जिनके अर्थ को लौकिक प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। सांख्य और मीमांसक वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय वालों ने वेदों की ईश्वर द्वारा उत्पत्ति मानी है। उनके अनुसार वेद ईश्वरकृत हैं।

आप्त पुरुष के वाक्य को शब्द प्रमाण कहते हैं। पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। कहा गया है—"वाक्यं पद-समूहः।" पदों का समूह वाक्य है।

शब्द के भेद

शब्द दो प्रकार के होते हैं—ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। ध्वन्यात्मक शब्द वह है, जिसमें केवल ध्वनि मात्र का ज्ञान होता है। स्पष्ट अर्थों का परिज्ञान नहीं होता। वर्णात्मक शब्द दो प्रकार के होते हैं—सार्थक और निरर्थक। सार्थक शब्द से अर्थविशेष का ज्ञान होता है। निरर्थक शब्द से अर्थविशेष का परिज्ञान नहीं हो पाता।

शब्द की शक्ति

शब्द में अर्थ प्रदान करने की शक्ति है। इस शक्ति को संकेत कहते हैं। नैयायिक के अनुसार यह ईश्वर प्रदत्त है। मीमांसा के अनुसार यह शब्द की शक्ति नित्य और स्वाभाविक ही है। संकेत के दो भेद हैं—आजानिक एवं आधुनिक। आजानिक का अर्थ है—परम्परागत, जो आदि काल से ही चला आ रहा है। और आधुनिक का अर्थ हैं—नवीन जो आधुनिक समय में चलता है।

पद के भेद

पद के चार प्रकार हैं—रूढ़, यौगिक, योग-रूढ़ और यौगिक रूढ़।

१. **रूढ़**—समुदाय शक्ति के आधार पर अर्थबोध कराने वाले पद। जैसे गो, घट एवं पट।

२. **यौगिक**—अवयवों के द्वारा अर्थ का बोध कराने वाले पद। जैसे पाचक, पाठक एवं वाचक।

३. **योग-रूढ़**—अवयव तथा समुदाय-शक्ति दोनों के द्वारा अर्थ का बोध कराने वाले पद। जैसे पंकज। पंकाज्जायते इति पंकजः। कीचड़ तथा कृमि आदि। लेकिन कमल में रूढ़ हो गया है।

४. **यौगिक रूढ़**—अवयवार्थ और समुदायार्थ का स्वतन्त्र रूप से बोध कराने वाले पद जैसे उद्भिद् तथा मण्डप आदि पद। उद्भिद् एक भाग विशेष और लता-गुल्म आदि। मण्डप का अर्थ है—माँड पीने वाला और यज्ञ का स्थान विशेष।

वाक्य की परिभाषा

वाक्य पदों के समूह को कहते हैं। पदों के समूह के द्वारा सार्थक वाक्य का बनना, कुछ बातों की अपेक्षा रखता है। जैसेकि आकांक्षा, योग्यता और संनिधि।

१. जिस दूसरे शब्द के उच्चारण हुए बिना जब किसी अन्य शब्द का अभिप्राय समझ में न आये, तब इस प्रकार के उन दोनों पदों का सम्बन्ध आकांक्षा कहा जाता है।

२. अर्थ का बोध न होना, योग्यता है। अभिप्राय यह है, कि वाक्य के बोध के लिए यह आवश्यक है, कि उद्देश्य और विधेय दोनों में परस्पर विरोध नहीं होना चाहिए।

३. पद के बिना विलम्ब के उच्चारण को संनिधि कहते हैं। बिना व्यवधान के उच्चारित शब्द ही सार्थक वाक्य का निर्माण कर सकते हैं।

शब्द शक्ति के भेद

न्याय-शास्त्र में शब्द की विभिन्न वृत्ति हैं। उसके दो भेद हैं—अभिधा एवं लक्षणा। ये दोनों वृत्तियाँ शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बताती हैं। नैयायिक व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार नहीं करते हैं। उसका अन्तर्भाव अनुमान में कर लेते हैं। अभिधा मुख्य-वृत्ति है, और लक्षणा गौण वृत्ति है। लक्षणा के तीन प्रकार हैं—जैसे कि जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था और भाग त्याग लक्षणा। वेदान्त भी लक्षणा को स्वीकार करता है।

परिशिष्ट

॥ पाश्चात्य तर्कशास्त्र ॥

तर्क की परिभाषा

तर्क शास्त्र, तर्क का एवं न्याय की पद्धति का शास्त्र है। तर्क क्या है ? अनुमान ही तर्क है। अनुमान उस ज्ञान को कहते हैं, जो प्रत्यक्ष ज्ञान के बाद में होता है। पहले ज्ञात तथ्य का प्रत्यक्ष होता है, बाद में अज्ञात तथ्य का ज्ञान होता है। जैसे कि किसी घर से धूम निकलते देखकर आग का अनुमान करते हैं। धूम प्रकट है, उससे अप्रकट आग का ज्ञान करते हैं। क्योंकि धूम और आग में व्यापक सम्बन्ध है। दूसरा उदाहरण इस प्रकार है।

सभी मनुष्य मरण-शील हैं।
सभी शिक्षक मनुष्य हैं।
सभी शिक्षक मरण-शील हैं।

इसमें मनुष्यत्व ज्ञात तथ्य है। इस ज्ञात तथ्य मनुष्यत्व को सभी शिक्षकों में देखकर, इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभी शिक्षक मरणशील हैं। क्योंकि मनुष्यत्व एवं मरणशीलता में अटूट सम्बन्ध है। अतएव अनुमान, प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित एक प्रकार का परोक्ष ज्ञान है।

शास्त्र के दो रूप होते हैं—विधि और निषेध। जो उचित कार्य करने की आज्ञा दे और अनुचित कार्य करने का निषेध करे, वह आदर्शवादी शास्त्र है। धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र आदर्शवादी शास्त्र हैं। क्योंकि इन शास्त्रों में हम 'चाहिए' की भावना से अनुप्राणित होते हैं। मनोविज्ञान तथा भौतिक विज्ञान, मन और जड़ द्रव्य का वर्णन करते हैं। ये 'चाहिए' से नहीं, 'है' से सम्बन्धित होते हैं। अतः मनोविज्ञान तथा भौतिक विज्ञान यथार्थवादी शास्त्र हैं।

तर्क-शास्त्र यथार्थवादी ज्ञान-मूलक शास्त्र है, क्योंकि इसमें अनुमान के यथार्थ रूप का अध्ययन होता है। स्टेबिंग के अनुसार "तर्क शास्त्र

सम्भावित आकारों का विज्ञान है।" उनके अनुसार–अनुमान एक मानसिक क्रिया है, जो यथार्थ नियमों तथा सिद्धान्तों के द्वारा संचालित होता है। अतः तर्क-शास्त्र, विधि-शास्त्र है। तर्क-शास्त्र यथार्थवादी होने के साथ-साथ आदर्श भी है। क्योंकि अनुमान में केवल यही जानना यथेष्ट नहीं है कि ज्ञात तथ्य से अज्ञात तथ्य की ओर कैसे जाते हैं, बल्कि यह जानना भी आवश्यक है, कि ज्ञात तथ्य से अज्ञात तथ्य की ओर कैसे जाना चाहिए। दूसरी बात यह है, कि तर्क-शास्त्र का आदर्श अनुमान के माध्यम से सत्यता की प्राप्ति है। व्यावहारिक जीवन की सफलता के लिए शुद्ध और सही अनुमान ही ध्येय होना चाहिए।

ज्ञान के भेद

तर्क-शास्त्र, तर्क का विशेष ज्ञान है। ज्ञान क्या है? एक मनुष्य जब एक आम्र-फल को चखता है, तब उसके सम्बन्ध में, यह ज्ञान होता है, कि यह आम्र फल मधुर है। इस ज्ञान में दो मनोभावों की व्यवस्था स्पष्ट है। प्रथम मनोभाव एक आम का है, और द्वितीय मनोभाव उस की मिठास का है।

ज्ञान के दो भेद मुख्य हैं–एक प्रत्यक्ष ज्ञान और दूसरा परोक्ष ज्ञान। प्रत्यक्ष ज्ञान वह है, जो वस्तु के सीधे सम्पर्क से मिलता है। प्रत्यक्ष बिना किसी माध्यम का ज्ञान है। यह दो प्रकार का होता है–प्रथम इन्द्रियप्रत्यक्ष, और दूसरा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष में, इन्द्रियों के साथ वस्तु का सीधा सम्पर्क होता है। पाँच बाह्य इन्द्रियाँ हैं। मन आन्तरिक इन्द्रिय है। इसके द्वारा सुख-दुःख, संकल्प-विकल्प, भाव, संवेग तथा विचार-विमर्श जैसी अन्तरंग अनुभूतियों का प्रत्यक्ष होता है।

परोक्ष ज्ञान उसको कहते हैं, जो किसी दूसरे ज्ञान के माध्यम से प्राप्त होता है। अनुमान परोक्ष ज्ञान है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष ज्ञान के माध्यम से प्राप्त होता है। जैसे कि धूम को देखकर अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान होता है। इस में धूम का प्रत्यक्ष माध्यम है।

अनुमान वह विचारात्मक प्रक्रिया है, जिसमें ज्ञात तथ्य से अज्ञात-तथ्य का ज्ञान किया जाता है। किसी मनुष्य को मुस्कराते देखकर अनुमान करते हैं, कि वह प्रसन्न है। मुस्कराना ज्ञात तथ्य है, और उसके प्रसन्न होने की बात अज्ञात तथ्य। आँखों में आँसू देखकर किसी व्यक्ति के विषय में यह अनुमान किया जाता है कि वह दुःखी है, विषाद-ग्रस्त है। आँखों में आँसू ज्ञात तथ्य है, और उसके दुःखी होने की बात अज्ञात तथ्य

है। अनुमान गलत भी हो सकता है। मुस्कान दुःख में भी सम्भव है, और आँसू सुख में भी।

वस्तुतः शुद्ध और सही अनुमान पर ही व्यावहारिक जीवन की सफलता निर्भर है। यदि मनुष्य के पास अनुमान की शक्ति न होती, तो वह कदापि पशु से भिन्न नहीं माना जाता। मनुष्यों में श्रेष्ठ और दूरदर्शी वही है, जो प्रत्यक्ष तथ्यों के आधार पर भूत और भविष्यकाल की घटनाओं का सही और शुद्ध अनुमान कर सके। सोफिस्ट लोग अनुमान पर अत्यधिक बल दिया करते थे। क्योंकि अनुमान वाद-प्रतिवाद में विरोधियों को परास्त करने का प्रबल अस्त्र भी है। यह ठीक है, कि उनके वाद-विवाद से ही अनुमान के नियमों तथा सिद्धान्तों का जन्म हुआ। उन्हीं नियमों एवं सिद्धान्तों को व्यवस्थित कर अरस्तू ने तर्क को व्यवस्थित रूप प्रदान करके शास्त्र का रूप दिया।

व्यावहारिक जीवन में, आकार एवं वस्तु अभिन्न हैं। परन्तु विचार के क्षेत्र में, वस्तु एवं आकार को भिन्न-भिन्न विचार सकते हैं। तार्किक लोगों ने अनुमान के सम्बन्ध में, आकार और वस्तु का भेद किया है—

(क) सभी बूढ़े अनुभवी हैं
रतन बूढ़ा है
रतन अनुभवी है।

(ख) सभी बालक चंचल हैं
दिनेश बालक है
दिनेश चंचल है।

(ग) सभी मनुष्य मरणशील हैं
हितेश मनुष्य है
हितेश मरणशील है।

(घ) कोई मनुष्य अमर नहीं
जिनदत्त मनुष्य है
जिनदत्त अमर नहीं।

तर्क-शास्त्र एक पद्धति है, उसके दो भेद हैं—निगमन-पद्धति और आगमन-पद्धति। आगमन और निगमन तर्क-शास्त्रीय विधियों एवं प्रक्रियाओं को स्वीकार किए बिना कोई विज्ञान संभव नहीं हो सकता। अतः तर्क-शास्त्र उक्त विधियों का निरूपण करता है। यह विज्ञानों का भी विज्ञान है। इस शास्त्र की विषय सीमा में, मुख्य रूप से अनुमान ही आता है। अनुमान सम्बन्धी नियमों एवं सिद्धान्तों की खोज, तर्क-शास्त्र का मुख्य विषय माना गया है। इस शास्त्र के क्षेत्र में, निगमनात्मक और आगमनात्मक दोनों प्रकार के अनुमान आते हैं। स्पष्ट ही पाश्चात्य पद्धति, भारतीय न्याय पद्धति से भिन्न रही है।

प्रमाण नय तथा निक्षेप

लक्षण और भेद

तत्त्वार्थ-सूत्र

(आचार्य उमास्वाति)

१—प्रमाण-नयैरधिगमः
२—मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम्
३—तत् प्रमाणे
४—आद्ये परोक्षम्
५—प्रत्यक्षमन्यत्
६—तद् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्
७—अवग्रहेहावायधारणा
८—श्रुतं मतिपूर्वं द्वि-अनेक द्वादशभेदम्
९—मति-श्रुतयोः निबन्धः सर्वद्रव्येषु असर्वपर्यायेषु
१०—रूपिषु अवधेः
११—तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य
१२—सर्व द्रव्य-पर्यायेषु केवलस्य
१३—मति-श्रुतावधयो विपर्ययश्च
१४—नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र-शब्दा नयाः
१५—आद्य-शब्दौ द्वि-त्रि भेदौ

प्रमाण-मीमांसा

(आचार्य हेमचन्द्र)

१—सम्यग् अर्थ-निर्णयः प्रमाणम्
२—अनुभयत्र-उभय-कोटि-स्पर्शी प्रत्ययः संशयः
३—विशेष-अनुल्लेखी अनध्यवसायः
४—अतस्मिन् तदेव इति विपर्ययः
५—प्रामाण्य-निश्चयः स्वतः परतो वा
६—प्रमाणं द्विधा

७—प्रत्यक्षं परोक्षं च

८—विशदः प्रत्यक्षम्

९—तत् सर्वथा-आवरण-विलये चेतनस्य स्वरूप-आविर्भावो मुख्यं केवलम्

१०—तत् तारतम्येऽवधि-मनःपर्यायौ च

११—इन्द्रिय-मनोनिमित्तः अवग्रहेहावाय-धारणात्मा सांव्यवहारिकम्

१२—स्पर्श-रस-गन्ध-रूप-शब्द-ग्रहण-लक्षणानि, स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुःश्रोत्राणि, इन्द्रियाणि, द्रव्य-भाव भेदानि

१३—द्रव्य-इन्द्रियं नियताकाराः पुद्गलाः

१४—भाव-इन्द्रियं लब्धि-उपयोगौ

१५—सर्वार्थ-ग्रहणं मनः

१६—अक्षार्थ-योगे दर्शन-अनन्तरम् अर्थ-ग्रहणम् अवग्रहः

१७—अवगृहीत-विशेष-आकाङ्क्षणम् ईहा

१८—ईहित-विशेष-निर्णयः अवायः

१९—स्मृति-हेतुः धारणा

२०—प्रमाणस्य विषयो द्रव्य-पर्यायात्मकं वस्तु

२१—फलम् अर्थ प्रकाशः

२२—अज्ञान-निवृत्तिः वा

२३—हान-आदि-बुद्धयो वा

२४—स्व-पर-आभासी, परिणामी, आत्मा प्रमाता

२५—अविशदः परोक्षम्

२६—उपलम्भ-अनुपलम्भ-निमित्तं व्याप्तिज्ञानम् ऊहः

२७—साधनात् साध्य-विज्ञानम् अनुमानम्

२८—तद् द्विधा स्वार्थं परार्थं च

२९—सह-क्रम-भाविनोः सह-क्रम-भाव-नियमः अविनाभावः

३०—ऊहात् तत् निश्चयः

३१—साध्य-निर्देशः प्रतिज्ञा

३२—साधनत्व- अभिव्यंजक-विभक्त्यन्तं साधन-वचनं हेतुः

३३—दृष्टान्त वचनम् उदाहरणम्

३४—धर्मिणि साधनस्य उपसंहार उपनयः

३५—साध्यस्य निगमनम्

३६—साधन-दोष-उद्‌भावनं दूषणम्, तत्त्व-संरक्षणार्थं प्राश्निकादिक समक्षं

३७—साधन-दूषण-वदनं वादः

३८—स्व-पक्षस्य सिद्धिः जयः

३९—असिद्धिः पराजयः

४०—सो निग्रहो वादि-प्रतिवादिनोः

न्याय-रत्न-सार

(आचार्य श्री घासीलाल जी महाराज)

१—स्व-पर-व्यवसायि ज्ञानम् अबाधितं प्रमाणम्

२—विरुद्धानेक-कोटि-स्पर्शि ज्ञानं संशयः

३—अतस्मिन् तद् अवगाहि ज्ञानं विपर्ययः

४—विशेषाध्यवसाय-विहीनं ज्ञानमनध्यवसायः

५—प्रतिभात-विषयाव्यभिचारित्वं प्रामाण्यम्

६—सांव्यवहारिक-पारमार्थिकाभ्यां प्रत्यक्षं द्विविधम्

७—इन्द्रियानिन्द्रियजं देशतो विशदं सांव्यवहारिकम्

८—कालान्तराविस्मरण हेतुः धारणा

९—द्विविधम् अतीन्द्रियं ज्ञानं पारमार्थिकं प्रत्यक्षम्

१०—पूर्वानुभूत-विषयकं तत्ता-उल्लेखि ज्ञानं स्मृतिः

११—प्रत्यक्ष-स्मृतिज-एकत्वादि संकलनात्मिका संवित् प्रत्यभिज्ञा

१२—त्रिकाल-वर्ति, साध्य-साधन-विषयक व्याप्ति ज्ञानं तर्कः

१३—साध्याविनाभावि लिंगजं ज्ञानम् अनुमानम्

१४—साध्याविनाभावो व्याप्तिः

१५—साध्य-धर्माधारः पक्षः

१६—साध्यविनाभावी हेतुः

१७—अविनाभाव प्रतिपत्तेरास्पदं दृष्टान्तः

१८—साध्याधारे पुनः हेतु-सद्भाव-ख्यापनम् उपनयः

१९—प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्

२०—भावरूपोविधिरभावरूपश्च निषेधः।

२१—विवक्षित-पर्यायाविर्भाव-रिक्तोऽनादि-सान्तः तस्योत्पत्तेः प्राग् उपादान-परिणामः प्रागभावः।

२२—भूत्वा अभवनं सादि-अनन्तः प्रध्वंसाभावः।

२३—पर्यायात् पर्यायान्तर-व्यावृत्तिरन्योन्याभावः सादिः सान्तश्च

२४—द्रव्याद् द्रव्यान्तर-व्यावृत्तिरत्यन्ताभावः अनादिरनन्तश्च

२५—आप्तवाक्यजन्यम् अर्थज्ञानम् आगमः

२६—वर्ण-पद वाक्यात्मकः शब्दः

२७—एकत्र एक धर्म-प्रश्न-विवक्षातः अविरोधेन व्यस्त-समस्त-विधि-निषेधयोः प्रतिपादकः स्यात् चिह्नितः सप्तधा वाक्य-प्रयोगः सप्तभंगात्

२८—सप्तभंगी सकलादेश-विकलादेश-भेदाद् द्विविधा

२९—द्रव्य-पर्यायार्पितेन कालादिभिः अभेदेन उपचारेण च सकल वस्तुनः प्रतिपादकत्वं सकलादेशत्वम् ।

३०—एकधर्ममुखेन भेदं कृत्वा वस्तु-प्रतिपादक वाक्यत्वं विकलादेशत्वम्

३१—प्रमाण-विषयीभूतोऽर्थः सामान्य-विशेषाद्यनेकान्तात्मकः

३२—संक्षेपतो नयो द्विविधः द्रव्य-पर्यायार्थिक-विकल्पात्

३३—नैगम-संग्रह-व्यवहार-विकल्पैः त्रेधा द्रव्यार्थिकः

३४—गौण-मुख्यभावेन पर्याययोः द्रव्ययोः द्रव्य-पर्याययोश्च विवक्षणात्मको नैगमः

३५—सत्तामात्र-ग्राही संग्रह-नयः परापर भेदाच्च द्विविधः

३६—संग्रहेण संकलित-सामान्य-भेद-प्रभेदं विधाय व्यवहार-प्रथमावतारकः अभिप्रायविशेषो व्यवहारः नयः

३७—पर्यायार्थिक नयः चतुर्विधः ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढ़-एवंभूत-भेदात् ।

३८—वर्तमान-समयमात्र-पर्यायग्राही नयः ऋजुसूत्रः

३९—कालादि-भेदेन वाच्यार्थ-भेदज्ञः अभिप्रायः शब्दः

४०—पर्याय-वाचि-शब्दानां भिन्नार्थत्वम् अभिमन्यमानः अभिप्रायः समभिरूढ़

४१—एवंभूतमर्थं स्व-वाच्यत्वेन कक्षीकुर्वाणो विचारः एवंभूतः

४२—विधि-निषेधाभ्यां नय-वाक्यमपि सप्तभंगात्मकम्

४३—प्रत्यक्षादि-प्रमाण-सिद्धः प्रमाता चैतन्य-स्वरूपः ज्ञानादि-परिणामी कर्ता भोक्ता गृहीत-शरीर-परिमाणः प्रतिशरीरं भिन्नः पौद्गलिका-दृष्टवान् कथंचित् नित्य आत्मा

४४—गृहीत-पुरुष-स्त्री-नपुंसक-शरीरस्य आत्मनः सम्यग्ज्ञान-क्रियाभ्यां कृत्स्न-कर्म-क्षयो मोक्षः

४५—तत्त्व-निर्णय-इच्छु-विजिगीषु कथा-भेदात् कथा द्विविधा

○

जैन तर्क-भाषा

(उपाध्याय यशोविजयजी)

१—स्व-पर-व्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्

२—तद् द्विभेदम् प्रत्यक्षं परोक्षं च

३—प्रत्यक्षं द्विविधं, सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं च

४—तच्च द्विविधं इन्द्रियजं अनिन्द्रियजं च

५—द्वयमपि मति-श्रुत-भेदात् द्विधा

६—इन्द्रिय मनोनिमित्तं श्रुताननुसारि ज्ञानं मतिज्ञानम्

७—श्रुतानुसारि च श्रुत-ज्ञानम्

८—धारणा त्रिविधा—अविच्युतिः स्मृतिः वासना च

९—स्मृति-हेतुः संस्कारो वासना

१०—स्वोत्पत्तौ आत्म-व्यापार-मात्रापेक्षं पारमार्थिकम्

११—तत् त्रिविधम्—अवधि-मनःपर्याय-केवल-भेदात्

१२—सकल-रूपि-द्रव्य-विषयकम्, आत्म-मात्रापेक्षं ज्ञानम् अवधिज्ञानम्

१३—तच्च षोढा—अनुगामि-वर्धमान-प्रतिपातीतर भेदात्

१४—मनोमात्र-साक्षात्कारिमनःपर्याय ज्ञानम्

१५—निखिल-द्रव्य-पर्याय-साक्षात्कारि केवल-ज्ञानम्

१६—साधनात् साध्य-विज्ञानम् अनुमानम्

१७—निश्चितान्यथा अनुपपत्ति—एक लक्षणो हेतुः

१८—स चायं द्विविधः, विधिरूपः प्रतिषेधरूपः

१९—यथास्थितार्थ-परिज्ञान-पूर्वक-हितोपदेश-प्रवण आप्तः

२०—प्रकरणादिवशेन शब्दार्थ-रचनाविशेषा निक्षेपाः

२१—अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थ-व्याकरणाच्च निक्षेपः

२२—स च चतुर्धा—नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव भेदात्

न्याय-दीपिका

(धर्मभूषण यति)

१—विवेक्तव्य-नाम-मात्र-कथनम् उद्देशः

२—व्यतिकीर्ण-वस्तु-व्यावृत्ति-हेतुः लक्षणम्

३—परस्पर-व्यतिकरे सति येन अन्यत्वं लक्ष्यते, तल्लक्षणम्

४—द्विविधं लक्षणम्—आत्मभूतम् अनात्मभूत च

५—असाधारण-धर्म-वचनं लक्षणम्

६—विरुद्ध-नाना-युक्ति-प्राबल्य-दौर्बल्य-अवधारणाय प्रवर्तमानो-विचारः परीक्षा

७—सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्

८—निराकारं दर्शनं, साकारं ज्ञानम्

९—विशद-प्रतिभासं प्रत्यक्षम्

१०—अन्वय-व्यतिरेक-गम्यः कार्य-कारण भावः

११—कतिपय-विषयं विकलम्

१२—सर्व-द्रव्य-पर्याय-विषयं सकलम्

१३—प्राक् अनुभूत-वस्तु-विषया स्मृतिः

१४—अनुभव-स्मृति-हेतुकं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्

१५—व्याप्ति-ज्ञानं तर्कः

१६—सर्वोपसंहारवती व्याप्तिः

१७—साधनात् साध्य-विज्ञानमनुमानम्

१८—निश्चित-साध्य-अन्यथा-अनुपपत्तिकं साधनम्

१९—अनुमानं द्विविधं, स्वार्थं परार्थं च

२०—निश्चितात् साधनात् साध्य-ज्ञानम्, स्वार्थानुमानम्

२१—परोपदेशमापेक्ष्य साधनात् साध्य-विज्ञानं परार्थानुमानम् तस्य त्रीणि अंगानि, धर्मी, साध्यम्, साधनं च

२२—आप्त-वाक्य-निबन्धनम् अर्थ-ज्ञानम्, आगमः

२३—आप्तः प्रत्यक्ष-प्रमित-सकलार्थत्वे सति, परम-हितोपदेशकः

२४—अर्थः अनेकान्तः, अनेके अन्ता धर्माः, सामान्य-विशेष-पर्याय-गुणा यस्य इति सिद्धः अनेकान्तः

२५—पर्यायो द्विविधः अर्थ-पर्यायः, व्यञ्जन-पर्यायः

२६—अर्थ-पर्यायः, भूतत्व-भविष्यत्व-संस्पर्श-रहित-शुद्ध-वर्तमान-काल अविच्छिन्नं वस्तु-स्वरूपम्

२७—व्यञ्जन पर्यायः, व्यञ्जनं व्यक्तिः, प्रवृत्ति-निवृत्ति-निबन्धनम्, जलानयनाद्यर्थं क्रिया-कारित्वम्

२८—गुण-पर्यायवद् द्रव्यम्

२९—सर्वम् अनेकान्तात्मकं सत्त्वात्

३०—प्रमाण-सिद्धम् अनेकान्तात्मकं वस्तु

३१—प्रमाण-गृहीतार्थ-एकद्देश-ग्राही प्रमातुः अभिप्राय-विशेषो नयः

३२—नयो ज्ञातुः अभिप्रायः

३३—नयान्तर-विषय-सापेक्षः सन् नयः

३४—नय-विनियोग-परिपाटी सप्तभंगी

३५—भंग-शब्दस्य वस्तु-स्वरूप-भेदवाचकत्वात्

३६—सप्तानां भंगानां समाहारः सप्तभंगी

३७—विधि-निषेधाभ्यां सप्तभंगी प्रवर्तते

३८—नय-प्रमाणाभ्यां वस्तु-सिद्धिः

३९—अर्थ-क्रिया-कारित्वं वस्तुनो लक्षणम्

४०—सिद्धोऽयं सिद्धान्तः

आगम में प्रमाण

(स्थानांग-सूत्र)

१—नाणं पंचविहं—आभिणिबोहियनाणं, सुयनाणं, ओहिनाणं, मणापज्जवनाणं, केवलनाणं

२—दुविहे नाणे पण्णत्ते—पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव

३—पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं-इन्दिय-पच्चक्खं नो इन्दिय-पच्चक्खं च

४—सत्त मूल-नया पण्णत्ता

णेगमे, संगहे, ववहारे, उज्जुसुए, सद्दे, समभिरूढे, एवंभूए

५—आवस्सयं चउविहं पण्णत्त

नाम आवस्सयं, ठवणा आवस्सयं, दव्व आवस्सयं, भाव आवस्सयं

तर्क-संग्रह

(अन्नं भट्ट-कृत)

१. प्रत्यक्ष-ज्ञान-करणं प्रत्यक्षम्

२. इन्द्रियार्थ-संनिकर्ष-जन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्

३. तद् द्विविधं, निर्विकल्पकं सविकल्पकं च

४. अनुमिति-करणम् अनुमानम्

५. परामर्श-जन्यं ज्ञानम् अनुमितिः

६. व्याप्ति-विशिष्ट-पक्ष-धर्मता-ज्ञानं परामर्शः

७. अनुमानं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च

८. लिंगं (हेतु) त्रिविधं—अन्वय-व्यतिरेकि, केवलान्वयि, केवल-व्यतिरेकि

९. संदिग्ध-साध्यवान् पक्षः

१०. निश्चित-साध्यवान् सपक्षः

११. निश्चित्-साध्याभाववान् विपक्षः

१२. उपमिति-करणम् उपमानम्

१३. संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध-ज्ञानम् उपमितिः

१४. तत्करणं सादृश्य-ज्ञानम्

१५. आप्त-वाक्यं शब्दः

१६. आप्तस्तु यथार्थ-वक्ता

१७. वाक्यं पद-समूहः

१८. शक्तं पदम्

१९. वाक्यं द्विविधम्

२०. वैदिकं लौकिकं च

२१. वैदिकम् ईश्वरोक्तत्वात्
सर्वमेव प्रमाणम्
लौकिकं तु आप्तोक्तं प्रमाणम्
अन्यद् अप्रमाणम्

२२. वाक्यार्थ-ज्ञानं शब्द-ज्ञानम्

२३. तत्करणं शब्दः

२४. एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्ध-नाना धर्म-वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं संशय

२५. मिथ्या-ज्ञानं विपर्ययः

२६. व्याप्यारोपेण व्यापकारोपः तर्क

२७. स्मृतिरपि द्विविधा यथार्था अयथार्था च

२८. प्रमाजन्या यथार्था

२९. अप्रमाजन्या अयथार्था

३०. यथार्थानुभवः त्रिविधः—संशय, विपर्यय, तर्क-भेदात्

न्याय-बिन्दु

(आचार्य धर्मकीर्ति)

१. कल्पनापोढम् अभ्रान्तम् प्रत्यक्षम्

२. अभिलाप-संसर्ग-योग्य-प्रतिभास-प्रतीतिः कल्पना, तया रहितम्

३. नाम जात्यादि-योजना वा कल्पना, तया अपोढम्, कल्पना स्वभावशून्यं

४. यन्न भ्राम्यति तद् अभ्रान्तम्

५. प्रत्यक्षं कल्पनापोढम् —न्याय प्रवेश

यत् ज्ञानम् अर्थे रूपादौ नामजात्यादि कल्पना-रहितम्, तद् अक्षम्, अक्षं प्रतिवर्तते, इति प्रत्यक्षम्

६. प्रत्यक्षं कल्पनापोढं, नामजात्याद्यसंयुतम् —प्रमाण-समुच्चय

७. कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्, इति दिङ्नागस्य प्रत्यक्ष-लक्षणम्,

८. अभ्रान्त-विशेषण-सहितं तु धर्मकीर्त्तेः

९. अज्ञातार्थ-ज्ञापकं प्रमाणम् —प्रमाण-समुच्चय

१०. प्रमाणम् अविसंवादि ज्ञानम् —प्रमाण-वार्तिक

११. अर्थाद् विज्ञानं प्रत्यक्षम् —प्रमाण-संग्रह

१२. साधनात् साध्य-विज्ञानम् अनुमानम्

☐

प्रमुख ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार

प्रमाण-प्ररूपणा

१. परीक्षा-मुख
२. प्रमेय-रत्न-माला
३. प्रमाण-मीमांसा
४. न्याय-दीपिका
५. प्रमाण-प्रमेय कलिका

नय-निरूपणा

१. अनुयोगद्वार सूत्र
२. तत्त्वार्थ भाष्य
३. सन्मति-सूत्र
४. प्रमाण-नय-तत्त्वालोक
५. जैन तर्कभाषा

निक्षेप-पद्धति

१. अनुयोगद्वार सूत्र
२. तत्त्वार्थ सूत्र
३. सन्मति-सूत्र
४. जैन तर्क-भाषा
५. जैन सिद्धान्त दीपिका

जैन न्याय के प्रसिद्ध आचार्य

१. आचार्य सिद्धसेन दिवाकर :
(क) सन्मति तर्क सूत्र
(ख) न्यायावतार-सूत्र

२. आचार्य समन्तभद्र :
(क) आप्त-मीमांसा

३. आचार्य हरिभद्र :
(क) शास्त्र वार्ता समुच्चय
(ख) षड् दर्शन समुच्चय
(ग) अनेकान्त जय-पताका

४. आचार्य अकलंक देव :
(क) प्रमाण-संग्रह
(ख) लघीयस्त्रयी
(ग) न्याय विनिश्चय

५. उपाध्याय यशोविजय :

(क) जैन तर्क-भाषा (ख) नय-रहस्य

(ग) नयोपदेश

सूत्रात्मक जैन न्याय ग्रन्थ

१. परीक्षा-मुख —माणिक्यनन्दि कृत

२. प्रमाण-नय-तत्त्वालोकालंकार —वादिदेव सूरि कृत

३. प्रमाण-मीमांसा —आचार्य हेमचन्द्र कृत

४. भिक्षु न्याय-कर्णिका —आचार्य श्री तुलसी कृत

५. न्यायरत्न-सार —आचार्य घासीलालजी कृत

बौद्ध न्याय के प्रसिद्ध ग्रन्थ

१. आचार्य दिङ्नाग कृत ग्रन्थ :

१. न्याय प्रवेश २. प्रमाण-समुच्चय

३. हेतु-चक्र-डमरू ४. प्रमाण शास्त्र

५. आलम्बन परीक्षा ६. त्रिकाल-परीक्षा

२. आचार्य धर्मकीर्ति कृत ग्रन्थ

१. न्याय बिन्दु २. हेतु बिन्दु

३. सिद्धि विनिश्चय ४. प्रमाण-वार्तिक

वैदिक न्याय के प्रसिद्ध ग्रन्थ

१. न्याय-सार —भासर्वज्ञ

२. तर्क-भाषा —केशव मिश्र

३. तर्क-कौमुदी —लौगाक्षि भास्कर

४. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली —विश्वनाथ पञ्चानन

५. तर्क संग्रह —अन्नं भट्ट

६. सप्त पदार्थी —शिवादित्य

७. तर्कामृत —जगदीश भट्टाचार्य

न्याय-वैशेषिक मुख्य ग्रन्थ

१. न्याय सार —भासर्वज्ञ

२. सप्त पदार्थी —शिवादित्य

३. तर्कभाषा —केशव मिश्र

४. तर्क कौमुदी —लौगाक्षि भास्कर

५. भाषा-परिच्छेद न्याय सिद्धान्त मुक्तावली

६. तर्क-संग्रह-दीपिका —अन्नं भट्ट

□□

व्याकरण; शब्द का अर्थ व व्याख्या करने की कुंजी है, तो न्याय-शास्त्र तत्व परीक्षण करने की (MASTER KEY) मुख्य चाबी है ।

भारतीय दर्शनकारो ने न्यायविद्या का सहारा लेकर अपने-अपने दर्शन की सत्यता एव निर्दोषता का मण्डन करने का भरपूर प्रयास किया है और साथ ही अन्य दर्शनों के खण्डन में भी इसका प्रयोग किया है । जैन न्याय-शास्त्र की शैली खण्डनात्मक कम, मण्डनात्मक अधिक रही है । नय-निक्षेप-प्रमाण (अनेकान्त एवं स्याद्वाद) पद्धति का सर्वथा स्वतंत्र एवं अभिनव चिन्तन जैन न्याय-शास्त्र की विलक्षणता है, इसीकारण भारतीय न्याय-शास्त्र मे जैन न्याय-शास्त्र की प्रतिष्ठा है ।

जैनदर्शन एवं न्याय-शास्त्र के विद्वान श्री विजयमुनि जी शास्त्री ने बहुत ही संतुलित तथा तुलनात्मक दृष्टि से जैन न्याय-शास्त्र का सुन्दर प्रतिपादन प्रस्तुत किया है, इसमे समग्र भारतीय न्याय शास्त्र के साथ ही शब्दशास्त्र की दृष्टि से भी नय- निक्षेप पद्धति की उपादेयता सिद्ध की है । परिशिष्ट में लक्षणावली में मूल ग्रंथों के सूत्र देकर न्याय के विद्यार्थियों के लिए गागर में सागर भर दिया है । पाश्चात्य तर्क शास्त्र के परिप्रेक्ष्य में जैन न्याय-शास्त्र का अवलोकन एक नवीन चिन्तन प्रस्तुत करता है ।

राष्ट्रसंत उपाध्याय श्री अमरमुनि जी के विद्वान शिष्य श्री विजयमुनि जी शास्त्री साहित्य, संस्कृति, अध्यात्म, दर्शन एवं न्याय-शास्त्र के गहन अभ्यासी है । प्रस्तुति कृति [illegible] महत्वपूर्ण पुस्तक सिद्ध होगी ।

दिवा[illegible] 282 002.